



**CIRCULARS  
AND  
PASTORAL LETTERS**



CIRCULARS AND PASTORAL LETTERS

OF

HIS LORDSHIP

THE RIGHT REVEREND

THOMAS FRANCIS BARRY, D. D.

BISHOP OF CHATHAM, N. B.

TO THE YEAR

1913

INCLUDING VARIOUS LISTS AND ACCOUNTS

SENT TO THE

CLERGY OF THE DIOCESE

11516



# Returns from The Missions of The Diocese of Chatham for 1908.

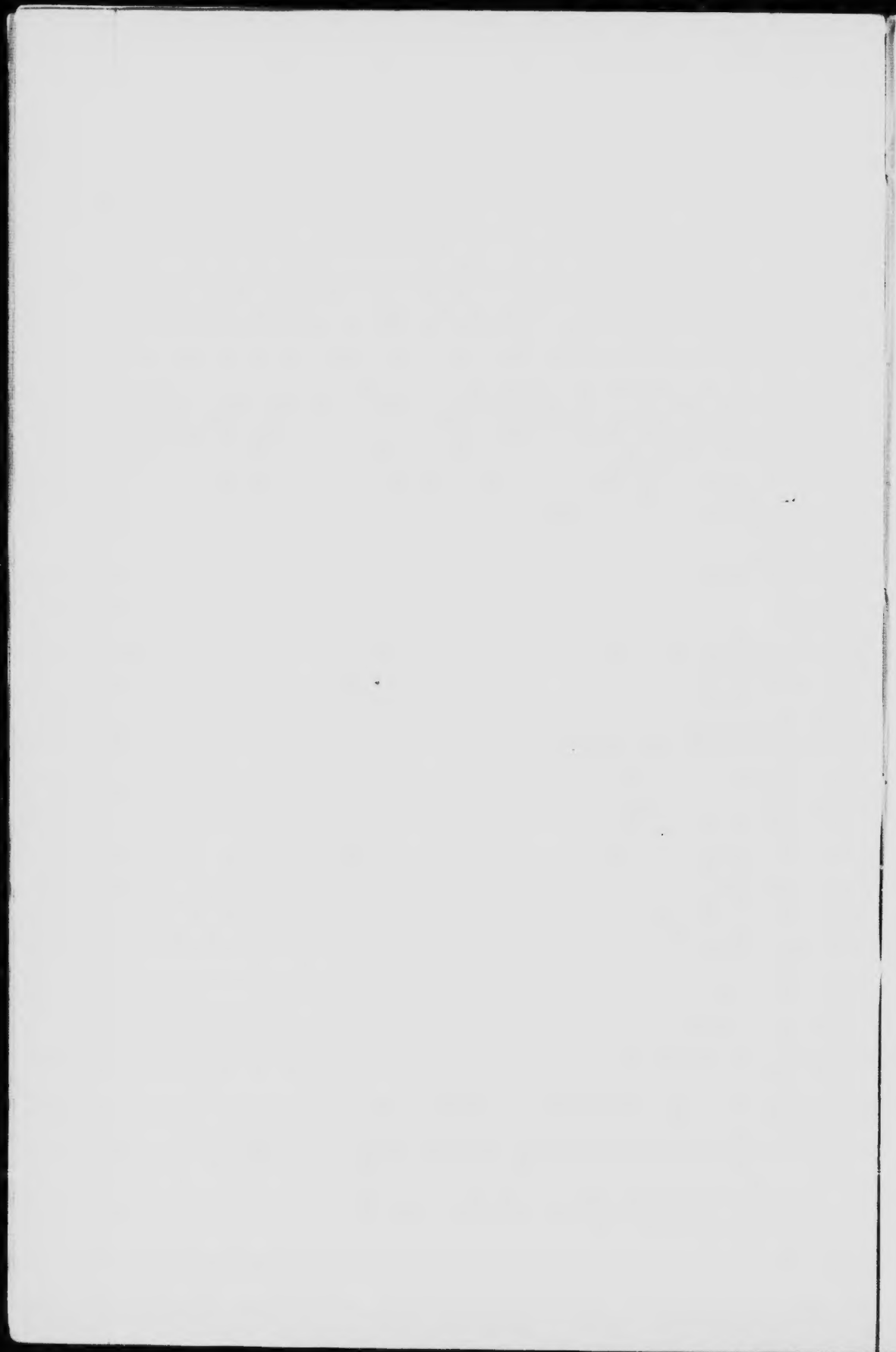
| MISSIONS.                |         |            |          |          | Contributions of the Reverend Clergy to the Bishop Rogers' Monument Fund. |  |  |  |       |
|--------------------------|---------|------------|----------|----------|---------------------------------------------------------------------------|--|--|--|-------|
| Ep. Coll.                | Compon. | Afr. Miss. | H. Land. | H. Oils. |                                                                           |  |  |  | \$    |
| Amherstville.....        | 12 00   | 4 00       | 5 50     | 1 00     | Rt. Rev. Thos. F. Barry, D. D.                                            |  |  |  | 30 00 |
| Balmoral.....            | 45 32   | 3 50       | 1 00     |          | Very Rev. L. N. Dugal, V. G., D. P.                                       |  |  |  | 20 00 |
| Barnaby River.....       | 59 55   | 82         |          |          | Very Rev. T. Allard, P. A.                                                |  |  |  | 15 00 |
| Baker Lake.....          | 25 00   | 2 00       | 9 50     |          | Very Rev. M. Richard, D. P.                                               |  |  |  | 15 00 |
| Bartholomew.....         | 42 00   | 11 00      |          |          | Very Rev. W. Varrilly, D. P.                                              |  |  |  | 20 00 |
| Barthurst (Town).....    | 184 45  | 18 50      | 1 00     |          | Very Rev. L. Lebastard                                                    |  |  |  | 10 00 |
| Barthurst (Village)..... | 80 00   | 4 00       | 5 00     |          | Rev. J. S. Pelletier                                                      |  |  |  | 10 00 |
| Bellefleur.....          | 70 00   | 25 20      |          |          | " John Carter                                                             |  |  |  | 25 00 |
| Black Point.....         | 20 00   | 52 50      |          |          | " S. J. Donnet                                                            |  |  |  | 5 00  |
| Blackville.....          | 54 30   | 17 00      | 3 00     |          | " P. W. Dixon                                                             |  |  |  | 20 00 |
| Boiestown.....           | 6 25    | 4 78       | 10 30    |          | " J. A. Babin                                                             |  |  |  | 10 00 |
| Burnt Church.....        |         | 40         | 50       |          | " Jos. Levasseur                                                          |  |  |  | 20 00 |
| Campbellton.....         | 84 15   |            | 13 00    | 2 00     | " E. P. Wallace                                                           |  |  |  | 10 00 |
| Caracquet.....           | 109 00  | 25 00      |          |          | " Felix Dugal                                                             |  |  |  | 10 00 |
| Chatham.....             | 1130 40 | 9 20       | 20 33    |          | " J. B. Gauvin                                                            |  |  |  | 10 00 |
| Charlo.....              |         | 1 97       | 2 39     | 1 00     | " T. Nadeau                                                               |  |  |  | 5 00  |
| Coalbrook.....           | 13 15   |            |          |          | " M. A. O'Keefe                                                           |  |  |  | 20 00 |
| Dalhousie.....           | 41 00   | 7 00       | 8 65     |          | " H. T. Joyner                                                            |  |  |  | 10 00 |
| Drummond.....            | 33 00   | 28 50      | 11 00    | 50       | " N. Power                                                                |  |  |  | 20 00 |
| Edmundston.....          | 42 50   | 10 00      |          |          | " T. Albert                                                               |  |  |  | 5 00  |
| Escuminac.....           | 58 52   | 6 00       |          |          | " E. J. Bannion                                                           |  |  |  | 10 00 |
| Grand Anse.....          | 32 00   | 27 00      | 1 72     |          | " Elou Martin                                                             |  |  |  | 5 00  |
| Grand Falls.....         | 62 00   | 43 00      | 2 00     | 50       | " John Wheten                                                             |  |  |  | 5 00  |
| Jacquet River.....       | 38 10   | 23 00      |          |          | " L. N. Dumont                                                            |  |  |  | 15 00 |
| L'Ancee.....             | 50 50   | 19 50      | 1 75     |          | " A. Beube                                                                |  |  |  | 10 00 |
| Loggreville.....         | 43 00   | 6 00       | 1 00     | 1 00     | " E. S. Marchand                                                          |  |  |  | 20 00 |
| Lower Caracquet.....     | 21 50   | 19 50      |          |          | " M. L. Richard                                                           |  |  |  | 10 00 |
| Miscou.....              | 18 40   | 3 00       |          | 1 00     | " S. J. Crumley                                                           |  |  |  | 20 00 |
| Negiac.....              | 17 00   | 51 50      | 5 00     |          | " J. J. McLaughlin                                                        |  |  |  | 10 00 |
|                          |         |            | 50       |          | " P. V. Dufre                                                             |  |  |  | 25 00 |

|                                   |        |           |           |           |          |                                            |           |
|-----------------------------------|--------|-----------|-----------|-----------|----------|--------------------------------------------|-----------|
| L'Ance                            | 30 50  | 19 50     | 1 75      | 1 00      | 1 00     | E. S. Maudsch.                             | 20 00     |
| Loggreville                       | 45 00  | 6 00      | 1 50      | 1 00      |          | " M. L. Richard                            | 10 00     |
| Lower Caraquet                    | 21 50  | 19 50     | 2 15      |           |          | " S. J. Cumley                             | 20 00     |
| Miscou                            | 18 40  |           |           |           |          | " J. J. McLaughlin                         | 10 00     |
| Negou                             | 17 00  | 51 50     | 3 00      | 5 00      | 1 00     | " P. V. Duffy                              | 25 00     |
| Nelson                            | 149 00 | 31 00     | 5 00      | 5 00      |          | " W. B. Sormany                            | 8 00      |
| Newcastle                         | 205 30 | 19 50     | 17 00     | 19 58     |          | " M. P. Robineau                           | 10 00     |
| Paquetville                       | 20 00  | 62 00     | 5 70      | 7 43      | 1 00     | " R. Robineau                              | 10 00     |
| Petit Rocher                      | 130 00 | 81 00     | 5 25      | 12 50     | 1 00     | " A. Z. Trudel                             | 1 00      |
| Pokemouche (Upper)                | 50 00  | 35 50     | 4 00      | 5 00      |          | " T. Lambert                               | 5 00      |
| Pokemouche (Lower)                | 20 00  | 52 00     | 5 00      | 6 00      |          | " F. N. O'Leary                            | 10 00     |
| Red Bank                          | 27 00  | 6 00      |           |           | 1 00     | " W. A. Venner                             | 5 00      |
| Renous Bridge                     | 150 00 | 6 00      | 3 57      | 4 00      |          | " M. Trudel                                | 9 28      |
| Richibucto                        | 45 00  | 11 00     | 4 50      | 6 00      |          | " L. Gagnon                                | 5 00      |
| Rogersville                       | 43 00  | 37 00     | 6 00      | 6 00      |          | " W. J. Conway                             | 10 00     |
| Shippegan                         | 23 00  |           | 2 35      | 1 15      |          | " H. O'Leary                               | 10 00     |
| St Andrew                         | 30 25  | 142 00    | 2 25      | 5 00      |          | " L. O'Leary                               | 10 00     |
| St Ann                            | 22 00  | 18 00     | 4 00      | 4 00      | 75       | Total                                      | \$ 513 28 |
| St Basil                          | 54 00  | 87 00     | 4 35      | 8 25      |          | Amts. still due on Cathedral Subscriptions |           |
| St Charles                        | 20 00  | 20 50     | 2 25      | 2 25      |          | of Sept. 1913                              |           |
| St Francis Xavier                 | 25 22  | 48 50     | 1 52      | 4 10      |          | Barnaby River                              | \$ 520 63 |
| St Francis of Assisi, (Clair)     | 9 40   | 2 00      | 3 25      | 4 60      |          | Grand Assisi                               | 240 00    |
| St Hilaire                        | 40 00  | 21 00     | 2 00      | 2 00      |          | Negou                                      | 125 00    |
| St Ignatius                       | 10 00  | 15 00     | 6 00      | 5 00      |          | Red Bank                                   | 450 00    |
| St Isidore                        | 20 00  | 33 00     | 4 50      | 3 68      |          | Shippegan                                  | 200 00    |
| St Jacques                        | 13 50  | 38 00     | 4 26      | 4 00      |          | St Andrew                                  | 535 00    |
| St Leonard                        | 23 00  | 57 00     | 4 00      | 4 00      |          | St Ann                                     | 50 00     |
| St Louis                          | 22 00  | 34 00     | 7 50      | 10 00     |          | St Isidore                                 | 220 50    |
| St Theresa                        | 32 00  | 62 00     | 4 00      |           |          | Up Bay du Vin, (St Margaret's)             | 300 00    |
| Tobique                           | 65 00  | 155 00    | 8 00      | 10 00     | 2 00     | Total                                      | \$2547 13 |
| Tracadie                          | 5 00   |           | 8 50      | 8 88      | 1 00     |                                            |           |
| Upper Bay du Vin (St. Margaret's) |        |           |           |           |          |                                            |           |
| Totals                            | \$ 32  | \$1931 20 | \$ 205 16 | \$ 254 68 | \$ 13 75 |                                            |           |

I am directed to thank the Reverend Clergy who have contributed as above to the Bishop Rogers' Monument Fund and respectfully request to be notified of any errors or omissions in the present lists.

CHATHAM, N. B., Feb. 23rd, 1909.

LOUIS O'LEARY.



(Circular)

CHATHAM, N. B., Feb. 2nd, 1909.

Feast of The Purification of Our Blessed Lady.

REVEREND FATHER, —

We beg to announce to you officially the death of Rev. Joseph R. Doucet at the Hotel Dieu of Montreal on the 9th inst. A native of the Diocese, Father Doucet consecrated his life to the works of religion and zeal in the Diocese of his birth. His sterling qualities of mind and heart, his regular and exemplary priestly life have no doubt merited for him a rich reward. As the frailties of human nature may have left some slight stains to be expiated, We earnestly recommend him to your charitable prayers and those of your people that, in addition to the Mass to be offered by each priest of the Diocese, he may receive the aid of many suffrages and enter speedily into his eternal rest.

In the Report of the Recommendations made at the Retreat at Caraquet in July, 1905, in Paragraph 4, we read: "A revalidation has been obtained from the Holy See for all invalid marriages in the Diocese up to the 9th of November, 1902, &c." By a misunderstanding this assertion was made too sweeping, the text of the Rescript being as follows:

BEATISSIME PATER, —

Thomas Franciscus Barry, Epus Chathamensis, ad pedes S. T. provolutus exponit: Episcopum Prædecessorem pluries concessisse bona quidem fide sed absque speciali Ap'licæ Sedis facultate, dispensationes super impedimentis secundii gradus consanguinitatis et affinitatis collateralis et disparitatis cultus, quapropter cum plura contracta fuerint matrimonia ob ejusmodi dispensationes invalida, humiliter petit ut

S. T. benigne eadem sanare in radice et convalidare dignetur.  
Ex Audientia SSmi habita die 11 Novembris, 1902.

SSmus D. N. Leo, Div. Prov. P. P. XIII, referente infrascripto S. Cong. de Propaganda Fide Sec'rio, matrimonia de quibus in precibus, dummodo eorum validitati nihil aliud obstet, et partes in bona fide maneant, benigne in radice sanare et convalidare dignatus est, prolem ex iis susceptam vel suscipiendam legitimam declarando; ea tamen lege ut eorundem matrimoniorum elenchus in Regestis Curiae Episcopalis, quantum fieri potest, una cum praesenti Rescripto sedulo adservetur ut pro quocumque futuro eventu de illorum validitate et respectivae prolis legitimitate constare possit. Contrariis quibuscumque non obstantibus.

Datum Romae ex Aed. S. Cong'nis de Propag. Fide, die et anno ut supra.  
Aloisius Vecchia, Sec'rius.

Hence it may be seen that the revalidation extends only in marriages contracted in virtue of dispensations granted in good faith but without special faculties by the late Bishop Rogers in impediments of the second degree of consanguinity and affinity and in the impediment of «disparitatis cultus,» provided no other obstacle to a valid union exists.

Confirmation will be given in the Counties of Northumberland and Kent during the early summer. The Pastors should prepare the children thoroughly for the reception of this holy Sacrament, and those who have missions attached to their parishes should in addition to the instruction given by the Sunday-school teachers, spend in each mission at least a fortnight, (not necessarily including Sunday) teaching them personally their Catechism.

By virtue of Faculties received from the Holy See, We grant the same dispensations in the Lenten Fast and Abstinence as last year, the Lenten regulations therefore will be the same as heretofore.

† THOS. F. BARRY,

Bishop of Chatham.

# PASTORAL LETTER

OF

THE RT. REV. THOS. F. BARRY, D. D.,  
BISHOP OF CHATHAM

---

THOMAS FRANGIS BARRY, BY THE GRACE OF GOD AND FAVOR  
OF THE APOSTOLIC SEE, BISHOP OF CHATHAM :

*To the Reverend Clergy, Religious Communities  
and Faithful Laity of the Diocese of Chatham,  
Health and Benediction in the Lord.*

« THOU SHALT NOT KILL. » — Exodus, XX, 13.

DEARLY BELOVED, —

We resume again the course of our instructions on the  
Commandments.

The fifth Commandment forbids the murder or killing  
of our fellow-being. By murder we understand the deliberate  
and unjust act by which a sane person destroys the life of  
his fellow-man. This power over life and death God has  
always reserved to Himself, for He alone is the Creator of  
man. « And the Lord God formed man of the slime of the  
earth; and breathed into his face the breath of life, and man  
became a living soul. » (Gen. 11, 27.) « And God created him  
to His own image, to the image of God He created him. »

(Gen. 1, 27.) Therefore God alone has supreme right over the life and death of His own creature; and he who usurps this power and destroys the life of a human being usurps the prerogative of God and is guilty of the greatest crime.

Like all the other Commandments, the fifth contains a two-fold obligation: 1st, it forbids to kill, 2nd, it commands us to live in peace with all men, to cherish sentiments of charity, good-will and friendship towards our neighbors even those who are hostile to us, and to bear with patience the ill-treatment, insults and injuries of others.

1st. The prohibitory precept. — This precept requires some explanation to be correctly understood. St. Augustin tells us that in his time there were false doctors who taught that the precept «Thou shalt not kill,» should be extended to the fruits of the earth which are insensible, and to the irrational animals which form no part of the great society of mankind. This false teaching is condemned by Holy Scripture, since God said to Noah and his sons on going forth from the ark after the deluge: «All the beasts of the earth, all the fowls of the air, all that move upon the earth, all the fishes of the sea are delivered into your hand. And every thing that moveth and liveth shall be meat for you: even as the green herbs have I delivered them all to you.» (Gen. IX, 2, 3.) The fifth Commandment refers only to the killing of human beings. The lower animals are destined by God for the service of man; they supply us with what is essential to life, namely, food and clothing; they help us in our work; they instruct us in our duties by their faithful compliance with the instinct of the nature which God gave them. The bee, for example, shows us by its constant industry that we should not spend our time in idleness; the dove teaches us to be pure, devoted and peaceful; the lamb to be inoffensive and patient; the birds delight and amuse us by the sweetness and variety of their singing. Thus all created things help to show

us the goodness of God and incessantly proclaim the wisdom and bounty of the Creator. To treat the lower animals then with cruelty, to unnecessarily cause them pain to abuse them through passion or to use them for purposes contrary to those for which they were created, may indeed, in a certain sense, be looked upon as entering the category of the things forbidden by the fifth commandment: for it is said in Holy Writ: «The just regardeth the lives of his beasts, but the bowels of the wicked are cruel.» (Prov. XII, 10.) And our Lord Himself says that «Not a sparrow shall fall on the ground without your father.» (St. Matt. X, 29).

If on the one hand we should not be cruel to animals and cause them unnecessary pain, we should not on the other be ridiculously fond of them. We sometimes find men and women showing greater affection for dumb animals and pampering them nauseously, who are hard-hearted and cruel in their conduct towards their neighbors, even the poor and needy. How disgusting it is to see people lavish on a pet dog or cat acts of kindness and affection which, in many cases, they would refuse to their own offspring.

Of the different kinds of murder we shall only speak of two, viz: suicide and homicide.

1st, Suicide.--Suicide is the destroying of one's own life with knowledge and deliberation. To be culpable the suicide must have the age of discretion and the use of his intellectual faculties. The crime of the self-destroyer is one of the most odious that man can commit, for it directly deprives God of His right and leaves to the culprit himself no time for repentance. The suicide's last act is his greatest crime. We repent, life belongs to God alone and He only can prolong it hasten its end. If any of the saints have hastened the hour of their death, as is related of St. Appollonia, who rushed into the fire prepared for her martyrdom by the executioner, they have done so by an inspiration of the Holy Ghost, to



show their contempt for the cruelty of tyrants and their ardent desire to suffer for God, and have not thereby sinned.

Man cannot destroy his own life for the purpose of avoiding shame, escaping temptation or dishonor. Every Christian should know this, and every Christian should also know that God, in His unbounded mercy, will not permit him to be tempted beyond his strength or allow his enemies or the miseries of this life to be so violent that he cannot with the help of fervent prayer obtain grace to overcome them. As a rule men are incited to destroy themselves by lack of success in business, through dishonesty in the management of their affairs, or by a life of debauchery and intemperance. Who has not heard of people putting an end to their existence because they lost all at the gambling table or because they ruined their reputation and that of their family by embezzling money, or because they could not succeed in obtaining the object of their sinful passions? These people are often to be almost as much pitied as blamed, for they are blinded by false reasoning and unchristian motives of honor. The ancients held the self-destroyer blamable and in contempt. One of their philosophers (Aristotle) says: — "The man who ends his life in order to escape poverty or the trials of this life is not a brave man, but simply a weak coward." There is a tendency to-day to attribute suicide to an unbalanced and irresponsible mind, but if this kind of reasoning be carried too far it would finally justify every species of crime.

We are, moreover, under strict obligation to avoid everything that would tend to destroy health and life, as, for example, engaging in certain hazardous games, athletic sports, acrobatic feats and equestrian performances where life is often unduly exposed, unless indeed the greatest precautions be taken against fatal accidents. On moral grounds such performances are sometimes very objectionable and blame-

worthy. Some people violate the fifth precept 'y excessive indulgence in unwholesome food and adulterated beverages; others by vanity in dress, hereby often injuring the vital organs and not unfrequently causing mutilation or sudden death. We may here mention, with profit to some, other occasions of danger to life which should be carefully avoided, such as crossing railways without due attention to approaching trains, careless handling of loaded fire-arms, etc; others place their lives and the lives of their neighbor in jeopardy by unnecessarily exposing themselves to contagious diseases or by carrying such to their neighbors, etc.

The civil authorities in many countries have decreed penalties, for instance, such as the confiscation of goods, in the case of those who destroy their own life; and the Church refuses her burial rites to the person who has died by his own hand. This refusal is not intended as a punishment of the culpable individual, but as a proof of her condemnation of the crime, and to prevent, as far as she is able, the repetition of such horrors.

Is it then always forbidden and unlawful to expose one's life to danger of death? No, there are many occasions in which it is not only right and meritorious but of obligation to expose one's life to danger and to death.

1st. When the public good requires it. — The soldier in a just war is obliged to sacrifice his life for the defence and protection of his country. Doctors who by profession attend to the sick are also obliged to risk their life when occasion requires it. 2nd. — To avoid a greater evil it is permissible to expose one's self to a lesser one. Thus a man may risk mutilation or death by throwing himself from the window of a burning house, if there be no better means of escaping. 3rd. — Through a motive of charity. One may expose his life rather than kill an unjust aggressor who is in the state of mortal sin, although there is not an obligation to do so. We may

also expose our life to protect a relative or friend in great danger. 4th.— It is not only right but praiseworthy and meritorious to sacrifice bodily health and life to gain life everlasting. All the martyrs and saints preferred to give up their bodily health and life rather than to prolong it by committing the slightest sin and by so doing gained a life of endless happiness in eternity. « He that shall lose his life for Me » says our Lord, « shall find it. » (St. Matt. X, 39.) 5th. — When there is question of saving the spiritual life of our neighbor it is not only praiseworthy, but oftentimes of strict obligation to expose our temporal life. Thus priests who have charge of souls cannot hesitate in rendering spiritual succor to the sick and dying in all kinds of sickness, no matter how great the danger of contagion or death may be. A soul is of such transcendent value in the sight of Almighty God that all earthly things even life should be freely sacrificed to save it. Christ gave us a true example of such devotedness and showed us His great love for the salvation of souls by dying on the cross to save mankind.

2nd. Homicide — is the general term used to designate the killing of a fellow-man. There are different kinds of homicide, viz : justifiable, excusable, culpable, voluntary and involuntary homicide. These terms are all self-explanatory. Regicide is the killing of a King or Sovereign. Parricide, the murder of a parent ; fratricide, that of a brother. By assassination is understood murder committed by surprise, or by a person in ambush. Homicide is said to be sacrilegious when committed in a church or when the victim is a person consecrated to God. Much that has been said regarding suicide, may be applied to homicide. By yielding to the most brutal passions, the murderer of his fellow-man commits an abominable crime against society. The two greatest criminals described in Holy Scripture were murderers Cain and Judas : the former the slayer of his brother Abel, the other the murderer of his Lord and Master. Cain rose up against his broth-

er Abel and slew him. And God said to Cain : « What hast thou done ? The voice of thy brother's blood crieth to Me from the earth. » (Gen. IV, 10.) To show how jealously God guarded human life, the first commandment given by Him after the universal deluge was that man should not imbue his hands in the blood of his fellow-man. « I will require the blood of your lives at the hands of every beast, and at the hand of man, at the hand of every man, and of his brother, will I require the life of man, » (Gen. IX, 5). And when Christ, in His sermon on the Mount, undertook to explain to His followers and His disciples the precepts of the Old Law, the first He made mention of was the prohibition to kill, as may be seen in the fifth chapter of St. Matthew. Murder is also a monstrous crime against society : for the different members of society form one social body ; their rights and duties are reciprocal ; and it may be said they mutually depend one upon the other, consequently the death of one member is a crime against the entire body. As Christians we are all brothers and we can imagine God saying to the murderer, as of old to Cain : « What hast thou done ? The voice of thy brother's blood crieth to Me from the earth. » Murder cries to heaven for vengeance. Blood has a strong and powerful voice and the first shed on earth was heard in heaven.

The prohibition to kill extends to every human creature, rich and poor, adults, children and even the unborn infant. Every child coming into the world has a right to life, and whosoever deprives it of that right, even its own mother, sins against God its Creator. It is important for doctors and midwives to know that human life from the very first moment of its existence must be safeguarded with the greatest care and attention, and this care and attention should be all the greater owing to the particular danger to which it is exposed at such a critical moment.

If we consider the different means by which murder

may be committed we find that the law "Thou shalt not kill" admits of no exception. It is not only by laying violent hands on another that the law is violated, but by every unjust means which may be employed, by fatal drugs, by poison and such like. It also prohibits the accomplishment of death by conspiracy by advice, by counsel or by any other means of co operation. Holy Scripture was very clear and positive on this point from the beginning of the world. "Whosoever," says the Almighty in the ninth chapter and sixth verses of Genesis, "shall shed man's blood, his blood shall be shed: for man was made to the image of God." And again it was renewed in the Mosaic law: "You shall not take money of him that is guilty of blood but he shall die forthwith. . . . Defile not the land of your habitation, which is stained with the blood of the innocent: neither can it otherwise be expiated but by his blood that hath shed the blood of another." (Numbers, XXXV, 31-33).

Besides the penalties of the civil law in every country against the murderer, the terrible pangs of a guilty conscience continually torment him. Cain after the murder of Abel was a fugitive on the earth: he feared the hand of every man lest he should become the victim of the same crime which he committed against his brother. Murderers find no rest or enjoyment in life and as a rule die a miserable death.

Is it then never lawful to deprive a man of life? In his explanation of this commandment St. Liguori says there are three causes which render homicide lawful, viz: public authority, self-defence and a just war.

1st. Public authority.—The public officers of justice are warranted in punishing evil-doers with death. It is even a duty of princes and judges to condemn criminals to capital punishment. This is admitted by the universal consent of mankind and practised in all countries. God is the author of civil society and gave it the power and means necessary for

preservation and progress,—but the preservation and public good of society often demand that capital punishment be decreed against malefactors. In this sense the holy King David says: — « In the morning I put to death all the wicked of the land; that I might cut off all the workers of iniquity from the city of the Lord. » (Ps. C, 8). And St. Paul teaches us that « Princes are not a terror to the good work, but to the evil. For he is God's minister to thee for good, but if thou do that which is evil, fear; for he beareth not the sword in vain. For he is God's minister: an avenger to execute wrath upon him that doth evil. » (Romans, XIII, 3, 4). This power however can never be used by private authority.

2nd. Self-defense. — Theologians generally teach it is lawful to kill an unjust aggressor, if there is no other means of saving one's life. It is a principle admitted by all that force may be repelled by force. *Vim vi repellere, omnes leges et omnia jura permittunt.* The natural law gives every man the right to protect his life and to make use of the means necessary to that end. Now the killing of an unjust aggressor may in some cases be the only way of saving one's own life. If one could save himself by flight or by wounding the aggressor, he should do so through motives of charity, if not of strict justice. It is also the teaching of the most renowned moralists that it would be lawful for a woman to kill the person who attempts to violate her chastity if she has no other means of preserving it. To many this virtue is justly dearer than life, and such is the honor and respect in which it is held by all christian people and nations that no human laws would condemn the courageous slayer of such a despicable criminal.

3rd. A just war. — It is not our purpose here to treat of the justice or injustice of war; that is a question which regards chiefly the supreme Ruler in the state, and which it is often impossible for the subject to determine. — 1° It is sufficient

to say that it is lawful to kill in a just war, and even in a war that is doubtfully just when we are commanded by our sovereign. In all wars just or doubtful it is unlawful after battle is over to kill, mutilate or maltreat the captive soldiers. Except in these and such like cases it is always sinful to kill, wound or mutilate our fellow men.

If it is a sin against the fifth precept to destroy the bodily life of our neighbor, it is immeasurably a greater crime to destroy his spiritual life. The body is only the tenement of the soul and as such deserves to be protected. Without the soul, the body is only a helpless mass of earth entrusted to our keeping by Almighty God in order to be made the instrument of amassing merits for eternity. The soul imparts to the body all its value and beauty, for it informs and enlivens it and makes it the temple of the Holy Ghost. If we are forbidden by this precept to destroy bodily life we are prohibited by a much stronger reason to kill the life of the immortal soul: and consequently we should abstain from all that would arouse sinful passions tending to destroy it: this is known as the sin of scandal and is strictly forbidden by the fifth commandment: "He that shall scandalize one of these little ones that believe in me, it were better for him that a millstone should be hanged about his neck and that he should be drowned in the depth of the sea." (Matt., XVIII, 6. 7.)

All fighting, quarrelling and disputing, anger and revenge are also forbidden as conducive to murder. "A hasty contention kindleth a fire, and a hasty quarrel sheddeth blood." (Eccli., XXVIII, 13). The Pastor will explain more fully to his flock these different vices, as also the contrary virtues inculcated in the second or Mandatory part of this commandment.

2°. The Mandatory part of this commandment. — According to the Catechism of the Council of Trent, we are commanded by the fifth commandment to love our neighbor,

to cherish sentiments of charity towards all men, to bear patiently ill-treatment and offenses by others and to pardon our enemies. The same law which forbids us to murder or harm our neighbor in his person or property, enjoins upon us the duty of loving him and exercising works of mercy towards him. Our Lord says : « If thou offer thy gift at the altar and there thou remember that thy brother hath aught against thee, leave there thy offering before the altar, and go first to be reconciled to thy brother and then coming thou shalt offer thy gift » (Matt., V, 23, 24.) The spirit of this admonition plainly shows that we should not entertain feelings of hatred or anger towards our brother. And St. John in his first Epistle says : « Whosoever hateth his brother is a murderer. » (1 Chap. III, 15.) We are formally commanded to love God : « Thou shalt love the Lord thy God with thy whole heart, and thy whole soul, and with thy whole mind. » (Matt., XXII, 37). This is the greatest and first commandment, says our Lord, but the second is like to it : « Thou shalt love thy neighbor as thyself. » (St. Matt., XXII, 39). We cannot love God without at the same time loving our neighbor because the love of God includes the love of our neighbor. « If any man say, I love God, and hateth his brother, he is a liar. For he that loveth not his brother, whom he seeth, how can he love God, whom he seeth not ? And this commandment we have from God : that he who loveth God, love also his brother. » (1 St. John, IV, 20, 21). We should love our neighbor because notwithstanding his defects he is one of God's noblest creatures, made to his image and likeness, and destined to be coheir with us for all eternity in the kingdom of heaven. We must also forgive our enemies from our hearts for the injuries done us. We wish to obtain pardon of our sins from God, but God exacts as a condition of this pardon that we forgive those who have injured us. He teaches us this in the parable of the ten thousand talents. The master forgave his servant an enormous sum, but the servant refused to forgive his fellow servant a trifling debt ;



when the Master heard this he condemned his conduct and delivered him to the tortures, till he should pay all the debt ; and our Lord adds : « So also shall my Heavenly Father do to you, if you forgive not everyone his brother from your hearts. » (St. Matt., XVIII, 35). To impress upon our mind how necessary this duty of forgiveness is He teaches us in our daily prayer to say : « Forgive us our trespasses as we forgive those who trespass against us. » He also assures us that if we forgive our enemies He will certainly forgive us our offenses : « For if you will forgive men their offenses, your heavenly Father will forgive you also your offenses, but if you will not forgive men neither will your heavenly Father forgive you your offenses. » (St. Matt., VI, 14)

It is not sufficient to forgive our enemies, we must wish them well and pray for them. « Bless them that curse you and pray for them that calumniate you, » says our Lord in the Gospel of St. Luke. (St. Luke, VI, 28.) And He repeats the same in St. Matthew in a more striking manner : « You have heard that it hath been said thou shalt love thy neighbor and hate thy enemy. But I say to you : Love your enemies ; do good to them that hate you ; and pray for them that persecute and calumniate you, that you may be the children of your Father who is in heaven, who maketh His sun to rise upon the good and bad and raineth upon the just and the unjust. » (Matt., V, 43, 44, 45.) There is no precept more frequently or more forcibly recommended in the Sacred Scriptures both in the Old and the New Testament than that of love for our neighbor and pardon for his offenses, and the measure of our charity towards our neighbor will be the measure of God's bounty towards us : « Take heed what you hear : in what measure you shall mete it shall be measured to you again. » (St. Mark, IV, 24.) And in St. Luke He repeats the same injunction with more details : « Judge not and you shall not be judged ; condemn not and you shall not be condemned ; forgive and you shall be forgiven ; give and it

shall be given to you : good measure and pressed down, and shaken together and running over, shall they give into your bosom. For with the same measure that you shall mete withal, it shall be measured to you again. » (St. Luke, VI, 37, 38.)

Knowing the difficulty men experience in obeying this sacred commandment, our Lord adds to the many earnest exhortations given us in Holy Writ the great example of His own life which we should always keep before our eyes as a model for imitation. — When betrayed in the garden He condescended to kiss the betrayer ; when St. Peter drawing his sword wounded one of the rabble about to seize Him, He performed a miracle to cure him : when scourged with rods and crowned with thorns and finally nailed to a cross, He who could defy the world to find even the suspicion of a fault in Him, poured out in His last breath words of blessing and of pardon. « This day thou shalt be with me in Paradise. » « Father forgive them, for they know not what they do. » Now since our great Leader and Model has done so much for us to save us from the dire consequences of sin and make us heirs to His Heavenly Kingdom, should we not make some little sacrifice for His sake for the good of our neighbor ? What a consolation it will be for us at the hour of death to feel that during life we pardoned our enemies and prayed for them ! At that dread hour with what confidence shall we invoke the assistance of Him Who has promised that he who forgives shall himself be forgiven : that he who judges not shall not be judged and that he who condemns not shall not be condemned !

This Pastoral shall be read in every church of the Diocese on the first Sunday after its reception that the Pastor shall officiate therein.

† THOS. F. BARRY,

Bishop of Chatham

Chatham, N. B. Feb. 16th, 1909,

Feast of the Commemoration of the Passion of Our Lord.

LOUIS J. O'LEARY, Secretary.

# LETTRE PASTORALE

DE

S. G. MGR THOS. F. BARRY, D. D.,  
EVÊQUE DE CHATHAM.

• • •

THOMAS-FRANÇOIS BARRY, PAR LA MISÉRICORDE DE DIEU  
ET LA GRACE DU SAINT-SIÈGE APOSTOLIQUE,  
EVÊQUE DE CHATHAM.

*Au Clergé séculier et régulier, aux Communautés religieuses  
et aux Fidèles du Diocèse de Chatham,  
Salut et Bénédiction en Notre-Seigneur.*

« VOUS NE TUEREZ POINT. » — Exode. XX, 13.

NOS TRÈS CHERS FRÈRES,

Nous reprenons, cette année, le cours de nos instructions sur les commandements de Dieu.

Le cinquième commandement défend le meurtre, c'est-à-dire de tuer son semblable. Par meurtre nous entendons l'acte délibéré et injuste par lequel une personne saine d'esprit enlève la vie à son semblable. Dieu s'est toujours réservé ce pouvoir de vie et de mort sur l'homme, car lui seul est le

Créateur de l'homme : « Le Seigneur Dieu forma donc l'homme du limon de la terre, et il souffla sur son visage un souffle de vie, et l'homme fut fait âme vivante. » ( Gen., II, 27 ). « Et il le créa à son image et à sa ressemblance. » ( Gen., I, 27 ). Dieu donc a seul le droit suprême de vie et de mort sur sa créature ; et celui qui usurpe ce pouvoir, usurpe une prérogative de Dieu en se rendant coupable du plus grand crime.

Le cinquième commandement, comme tous les autres, comporte une double obligation. Premièrement, il défend de tuer ; deuxièmement, il nous ordonne de vivre en paix avec tous les hommes, d'entretenir des sentiments de charité, de bienveillance, d'amitié à l'égard de notre prochain, et même de ceux qui nous sont hostiles ; de supporter avec patience les mauvais traitements, les insultes et les injures des autres.

#### I. LE PRÉCEPTÉ NÉGATIF.

Pour être bien compris, ce précepte a besoin de quelque explication. Saint Augustin nous rapporte que, de son temps, de faux docteurs enseignaient que ce précepte « tu ne tueras point » devait s'étendre à tous les fruits inanimés de la terre, aux animaux dépourvus de raison et exclus pour cela de la grande société humaine. Cette fausse doctrine est condamnée par la Sainte Ecriture. En effet, Dieu dit à Noé et à ses fils, au sortir de l'arche, après le déluge : « Tous les animaux de la terre, tous les oiseaux du ciel, et tout ce qui se meut sur la terre, tous les poissons ont été mis entre vos mains. Tout ce qui se meut et vit sera votre nourriture ; de même que les légumes verts, je vous ai donné toutes ces choses. » ( Gen., IX, 2, 3. ) Le cinquième commandement ne se rapporte donc qu'à la destruction des êtres humains. Les animaux inférieurs ont été destinés par Dieu au service de l'homme ; ils nous fournissent ce qui est essentiel à la vie : la nourriture et le vêtement. Ils nous aident dans nos travaux ; ils nous enseignent nos devoirs en obéis-

sant fidèlement à l'instinct dont Dieu a doué leur nature. L'abeille nous indique par son infatigable activité, qu'il ne faut pas perdre son temps dans l'oisiveté ; la colombe nous enseigne la pureté, le dévouement et l'esprit de paix ; l'agneau, l'innocence et la patience. Les oiseaux nous réjouissent et nous récréent par la douceur et la variété de leurs chants. La création tout entière manifeste la bonté de Dieu et proclame à chaque instant la sagesse et la miséricorde du Créateur. Traiter les bêtes avec cruauté, leur faire du mal inutilement, les faire servir à des fins contraires à celles pour lesquelles elles ont été créées, voilà autant d'actions qui peuvent, jusqu'à un certain point, entrer dans la catégorie des choses défendues par le cinquième commandement. Car il est dit dans la Sainte-Ecriture : « Le juste connaît les âmes de ses bêtes, mais les entrailles des impies sont cruelles. » (Prov., XII, 10.) Et Notre-Seigneur lui-même dit : « Il ne tombe pas un seul moineau sur la terre sans l'ordre de votre Père. » ( S. Math., X, 29 ).

Mais si, d'un côté, il ne faut pas être cruel envers les animaux, il ne faut pas non plus, de l'autre, donner dans le ridicule en leur témoignant trop d'affection. Il n'est pas rare de rencontrer des hommes et des femmes qui s'affectionnent trop aux bêtes, les entourent de soins propres à provoquer le dégoût, tandis que la pauvreté et la misère de leurs semblables les laissent insensibles et cruels. Il est vraiment dégoûtant de voir certaines gens prodiguer à un chien ou un chat favoris des caresses et des marques d'affection que, dans la plupart des cas, ils refusent à leurs propres enfants.

Des différentes espèces de meurtres nous ne considérerons que deux : le suicide et l'homicide.

Premièrement. Le suicide. — Le suicide est l'acte de celui qui sciemment et délibérément se donne la mort. Pour qu'il y ait culpabilité, il faut que l'auteur du suicide ait l'âge de discrétion et l'usage actuel de ses facultés mentales. Le sui-

cide est l'un des crimes les plus abominables que l'homme puisse commettre, car il lèse directement Dieu dans ses droits et ne laisse pas au misérable le temps de se repentir. Le dernier acte du suicidé est son plus grand crime. Dieu seul, Nous le répétons, est le maître de la vie ; à lui seul appartient de la prolonger ou de l'abréger. Si quelquefois les saints ont avancé l'heure de leur mort, comme on rapporte de Sainte Apollonie qui s'élança dans le feu allumé par le bourreau pour son martyre, ils l'ont fait sous l'inspiration du Saint-Esprit, pour marquer leur mépris pour la cruauté des tyrans et leur ardent désir de souffrir pour Dieu ; en agissant ainsi ils n'ont pas péché.

Tout chrétien devrait savoir qu'il est également défendu de mettre fin à ses jours pour éviter la honte, échapper à la tentation ou au déshonneur, et aussi que Dieu, dans son incommensurable miséricorde, ne permettra pas qu'il soit tenté au-delà de ses forces ; car par la prière fervente, il peut toujours obtenir de Dieu la force de résister à ses ennemis et de surmonter les misères de cette vie. D'ordinaire les hommes sont poussés au suicide par un revers de fortune, par la malhonnêteté dans la gérance de leurs affaires, par une vie de débauche et d'intempérance. Qui ne sait combien de personnes tranchent le fil de leur existence par suite de pertes au jeu d'argent, ou bien parce qu'elles ont ruiné leur réputation ou celle de leur famille par des malversations, ou que l'objet de leurs passions coupables leur a échappé ? Ces gens sont souvent tout autant à plaindre qu'à blâmer, car ils sont aveuglés par des motifs d'honneur purement humains. Les anciens ont blâmé et méprisé l'auteur de ce crime. Un de leurs philosophes, Aristote, a dit : « L'homme qui met fin à ses jours pour fuir la pauvreté et les épreuves de cette vie, n'est pas un brave, mais tout simplement un lâche. » De nos jours, il existe une tendance à excuser le suicide en l'attribuant au dérangement de l'esprit. Mais si l'on poussait trop loin ce raisonnement, l'on finirait par justifier tous les crimes.

De plus, nous sommes tenus en toute rigueur d'éviter tout ce qui tendrait à ruiner la santé et la vie, comme, par exemple, serait de se livrer à des jeux périlleux, tels que certains divertissements athlétiques, certains tours de force, manèges ou courses hippiques, ou la vie est exposée sans besoin : à moins toutefois que les plus grandes précautions ne soient prises pour prévenir les accidents graves. En morale, ces exercices laissent souvent à désirer et sont condamnables. Quelques-uns violent le cinquième précepte par abus de nourriture malsaine et de breuvages falsifiés ; d'autres, par vanité dans les habits, ruinent les organes vitaux, d'où résultent souvent des difformités ou la mort subite. Il peut être utile pour un certain nombre de signaler d'autres occasions de danger que l'on devrait aussi éviter avec soin, tel que de traverser les chemins de fer sans précaution, de s'approcher de trop près des convois, de manier imprudemment des armes à feu chargées ; d'autres mettent leur vie et celle de leur prochain en péril en s'exposant sans nécessité à contracter des maladies contagieuses ou à les communiquer aux autres. &c. , &c.

Les autorités civiles, dans plusieurs pays, ont édicté des peines sévères, telles que la confiscation des biens, etc., contre ceux qui s'ôtent la vie ; et l'Eglise refuse la sépulture religieuse à celui qui a péri de sa propre main. Ce refus de l'Eglise est moins en punition de l'individu coupable que pour témoigner de son horreur pour ce crime, et pour prévenir, autant qu'elle le peut, la répétition de telles abominations.

Est-il donc toujours défendu et contraire au précepte de s'exposer à la mort ? Non. Il y a plusieurs circonstances où non-seulement il est loisible et méritoire, mais encore obligatoire d'exposer sa vie et de braver la mort :

1°. Quand le bien public le demande. Le soldat, dans une guerre juste, est obligé de sacrifier sa vie pour la défense et la protection de sa patrie. Les médecins sont tenus par office de soigner les malades, et même au péril de leur

vie, quand le secours de leur art est nécessairement requis.

2°. Pour éviter un plus grand mal, il est permis de s'exposer à un moindre. Ainsi quelqu'un peut s'exposer à la rupture d'un membre ou à la mort même, en se jetant de la fenêtre d'une maison en feu, s'il ne peut s'évader autrement.

3°. Par charité, on peut exposer sa vie sans y être tenu cependant, plutôt que de tuer un injuste agresseur en état de péché mortel ; on peut aussi exposer sa vie pour porter secours à un parent ou un ami dans un grand danger.

4°. Il n'est pas seulement licite, mais encore louable et méritoire, de sacrifier la santé et la vie du corps pour obtenir la vie éternelle. Les martyrs et les saints ont aimé mieux renoncer à la santé et à la vie temporelle plutôt que de la prolonger en commettant le plus léger péché ; et, en échange, ils ont obtenu une vie d'interminable bonheur dans l'éternité : « Celui qui aura perdu sa vie pour l'amour de moi, la retrouvera. » ( Math., X, 39. )

5°. Quand il s'agit de sauver la vie spirituelle de notre prochain, il n'est pas seulement louable, mais très souvent de stricte obligation, d'exposer notre vie temporelle. C'est ainsi que les prêtres qui ont charge d'âmes ne peuvent hésiter un instant à porter les secours spirituels aux malades et aux mourants, dans toutes les maladies, quelque grand que soit le danger de contagion ou de mort. Une âme est si précieuse aux yeux du Dieu tout-puissant que toutes les choses terrestres doivent lui être sacrifiées. Le Christ nous a donné ce véritable exemple de dévouement et nous a manifesté son ardent désir du salut des âmes en mourant sur la croix pour sauver le monde.

Deuxièmement. L'homicide. — Homicide est le terme général pour désigner l'acte de tuer son semblable. Il y a différentes espèces d'homicides : justifiable, excusable, cou-



pable, volontaire et involontaire. Ces termes sont assez clairs par eux-mêmes. Le régicide est le meurtre d'un roi ou souverain : le parricide est le meurtre de son père ou de sa mère : le fraticide, celui de son frère.

Par assassinat on entend un meurtre commis par surprise ou dans une embuscade. L'homicide devient sacrilège s'il est perpétré dans une église ou si la victime est une personne consacrée à Dieu. Beaucoup de ce qui a été dit du suicide peut s'appliquer à l'homicide. En cédant aux passions les plus brutales, le meurtrier de son semblable commet un crime atroce contre la loi de Dieu et contre la société. Les deux plus grands criminels dont parle la Sainte-Ecriture, Caïn et Judas, ont été des meurtriers, le premier de son Frère Abel, le second de son Seigneur et Maître : « Caïn se leva contre son Frère Abel et le tua ; et Dieu dit à Caïn : Qu'as-tu fait ? la voix du sang de ton frère crie de la terre jusqu'à moi. » ( Gen., IV, 10 ). Pour montrer avec quelle jalousie Dieu a défendu la vie humaine, le premier commandement qu'il ait donné, après le déluge universel, fut que l'homme ne trempât pas ses mains dans le sang de son frère : « Car je vengerai votre sang de toutes les bêtes, et je vengerai la vie de l'homme de la main de l'homme, et de la main de son frère. » ( Gen., IX, 5 ). Et quand le Christ, dans son sermon sur la montagne, voulut expliquer à ses disciples et à la foule les préceptes de la loi ancienne, le premier qu'il mentionna fut qu'il est défendu de tuer, comme on peut voir au chapitre cinquième de Saint Mathieu.

Le meurtre est aussi un crime énorme contre la société ; car les différents membres de la société ne forment qu'un seul corps social : ils ont des droits et des devoirs réciproques. Ils sont, pour ainsi dire, solidaires les uns des autres ; d'où il suit que le meurtre d'un membre constitue un crime contre le corps tout entier. Comme chrétiens nous sommes tous frères : nous pouvons donc nous représenter Dieu disant

au meurtrier ce qu'il dit autrefois à Caïn : « Qu'as-tu fait ? La voix du sang de ton frère crie de la terre jusqu'à moi. » Le meurtre crie vengeance au ciel ; elle est forte la voix du sang puisque le premier versé a été entendu du ciel.

La défense de tuer comprend toute créature humaine, les riches, les pauvres et les enfants, même ceux qui ne sont pas encore nés. Tout enfant venant dans ce monde y apporte le droit de vivre, et quiconque le prive de ce droit, fût-ce sa pêche contre Dieu son Créateur. Il importe que les hommes et les sages-femmes sachent que la vie humaine, dès le premier instant de son existence, doit être protégée avec le plus grand soin et la plus grande attention, soin et attention d'autant plus grands qu'à cette période critique, la vie de l'enfant est plus particulièrement exposée.

Ce précepte : « Tu ne tueras point, » ne souffre pas d'exception, si on le considère dans ses rapports avec les moyens dont le meurtre peut être commis. Ce n'est pas seulement par voie de violence brutale que le meurtre est commis, mais par tout moyen injuste employé à cette fin, comme les potions délétères, les poisons, &c. Le commandement défend aussi de causer la mort par conspiration, avis, conseils ou tout autre mode de coopération. La Sainte-Ecriture est très claire et positive sur ce point, dès le commencement du monde : « Quiconque, dit le Tout-Puissant, au verset sixième du chapitre neuvième de la Genèse, aura répandu le sang de l'homme, son sang sera répandu ; car c'est à l'image de Dieu qu'a été fait l'homme. » Le même précepte revient dans la loi mosaïque : « Vous ne recevrez point d'argent de celui qui est coupable du sang ; mais il mourra aussitôt lui-même . . . Ne souillez point la terre de votre habitation, laquelle est profanée par le sang des innocents ; et elle ne peut être purifiée que par le sang de celui qui a versé le sang d'un autre. » (Nomb., XXXV, 31-33). Outre les peines portées, dans tous les pays, contre le meurtrier, les angoisses terribles d'une conscience coupable le tourmentent continuellement. Caïn, après

le meurtrier d'Abel, devint vagabond sur la terre ; il fuyait tout homme qu'il rencontrait, de peur de tomber lui-même victime du même crime qu'il avait commis contre son frère. Il n'est point de repos pour le meurtrier ; les jouissances de la vie, il ne les connaît pas, et d'ordinaire il meurt misérablement.

N'est-il donc jamais permis de priver un homme de la vie ? Dans ses commentaires sur ce commandement, Saint Liguori mentionne trois causes qui rendent l'homicide licite : l'autorité publique, notre propre défense et une guerre juste.

1°. L'autorité publique. — Les administrateurs publics de la justice peuvent impunément envoyer à la mort les malfaiteurs. C'est même pour les princes et les juges un devoir de punir les criminels de la peine capitale. Ce droit est reconnu par le consentement universel du genre humain et mis en pratique dans tous les pays. Dieu est l'auteur de la société civile et il lui a donné le pouvoir et les moyens nécessaires de se maintenir et de progresser. Or la défense et le bien public de la société exigent souvent que la peine de mort soit infligée aux malfaiteurs. C'est dans ce sens que le saint roi David dit : « Dès le matin je tuais tous les pécheurs de la terre, afin d'exterminer de la cité de Dieu tous ceux qui opèrent l'iniquité. » (Ps. C, 8). Et saint Paul nous enseigne que « Les princes ne sont point à craindre pour les bonnes actions, mais pour les mauvaises. . . car le prince est le ministre de Dieu pour votre bien ; mais si vous faites le mal, craignez : car ce n'est pas en vain qu'il porte l'épée : car il est le ministre de Dieu, chargé d'exécuter sa vengeance en punissant celui qui fait le mal. » (Rom., XIII, 3, 4). Ce pouvoir, cependant, l'autorité privée ne peut se l'arroger.

2°. Notre propre défense. — Les théologiens enseignent communément qu'il est permis de tuer un injuste agresseur, quand il ne reste plus d'autre moyen de sauver sa propre vie. C'est un principe admis de tous que la force peut être repoussée par la force. (*Vim vi repellere omnes leges et omnia*

*jura permittunt*) La loi naturelle reconnaît à tout homme le droit de protéger sa vie et de faire usage des moyens nécessaires à cette fin. Or tuer un injuste agresseur peut, dans certains cas, être le seul moyen de défendre sa propre vie. Si l'on pouvait se soustraire par la fuite ou bien en blessant son agresseur, on serait tenu en charité, sinon en stricte justice, de le faire. Les moralistes les plus renommés enseignent aussi qu'une femme peut mettre à mort l'audacieux qui tenterait de la violer, si elle n'a pas d'autre moyen de conserver sa chasteté. Pour plusieurs, en effet, cette vertu est à juste titre plus chère que la vie ; et les peuples chrétiens l'entourent d'un tel honneur et d'un tel respect qu'aucune loi humaine n'oserait condamner l'acte courageux qui laverait la terre d'un aussi détestable criminel.

3°. Une guerre juste. — Il n'entre pas dans notre cadre de traiter de la justice ou de l'injustice de la guerre ; c'est une question qui regarde principalement les chefs suprêmes de l'État et qu'il est souvent impossible au simple sujet de déterminer. Qu'il nous suffise de dire qu'il est permis de tuer dans une guerre juste et même dans une guerre dont la justice est contestée, pourvu que le souverain l'ordonne. Dans toutes les guerres justes ou douteuses, il est défendu, après la bataille, de tuer, de mutiler ou de maltraiter les prisonniers de guerre. À l'exception de ces cas et autres semblables, c'est toujours un péché de tuer, de blesser ou de mutiler un être humain.

Si c'est une faute grave contre le cinquième commandement d'arracher la vie corporelle à notre prochain, c'est un incomparablement plus grand crime de lui faire perdre la vie spirituelle. Le corps n'est que l'enveloppe de l'âme, et ce n'est que de ce chef qu'il mérite qu'on le protège. Sans l'âme, il n'est qu'un amas de terre inerte confié à notre garde et destiné à nous servir d'instrument pour acquérir des mérites pour l'éternité. C'est l'âme qui donne au corps sa valeur et sa beauté : c'est par elle qu'il a la raison et la vie, et qu'il est le

temple de l'Esprit-Saint. Si donc il nous est défendu par ce précepte de tuer le corps, à plus forte raison nous est-il interdit de priver l'âme immortelle de sa vie, en conséquence, nous sommes tenus de nous abstenir de tout ce qui pourrait éveiller les passions mauvaises qui l'en priveraient. C'est là le péché de scandale qui tombe lui aussi sous la prohibition du cinquième commandement : « Celui qui scandalise un de ces petits qui croient en moi, il vaudrait mieux pour lui qu'on lui suspendit au cou une meule de moulin et qu'on le jetât au fond de la mer. » (Math., XVIII, 6, 7).

Les rixes, les querelles, les disputes, la colère, la vengeance sont toutes choses défendues comme entraînant au meurtre : « Une lutte précipitée allume le feu, une dispute précipitée répand le sang. » (Eccl., XXVIII, 13).

Le prêtre expliquera plus au long à ses fidèles ces différents vices, de même que les vertus contraires qui sont contenues dans la seconde partie qui est la partie positive du commandement).

## II PRÉCEPTES POSITIFS.

D'après le catéchisme du Concile de Trente, il nous est ordonné, par le cinquième commandement, d'aimer notre prochain, de nourrir des sentiments de charité à l'égard de tous les hommes, de supporter patiemment les mauvais traitements, les offenses des autres, et de pardonner à nos ennemis. La même loi qui nous défend de tuer notre prochain et de lui faire tort dans sa personne ou dans ses biens, nous commande aussi de l'aimer et de lui venir en aide par des œuvres de miséricorde. Notre-Seigneur dit : « Si donc vous présentez votre offrande à l'autel et que là vous vous souveniez que votre frère a quelque chose contre vous, laissez là votre offrande et allez vous réconcilier auparavant avec votre frère ; et alors revenant, vous offrirez

vosre don.» (Math., V, 23, 24). L'esprit de cette recommandation nous montre clairement qu'il ne faut pas entretenir de sentiments de haine ou de colère envers notre frère. Et saint Jean, dans sa première épître, ajoute : « Quelqu'un qui hait son frère est un meurtrier. » Il nous est formellement prescrit d'aimer Dieu : « Vous aimerez le Seigneur votre Dieu de tout votre cœur, de toute votre âme, de tout votre esprit. »

(Math., XXI, 37). C'est le plus grand et le premier commandement, dit Notre-Seigneur, et le second lui est semblable : « Vous aimerez votre prochain comme vous-même. » (Math., XXII, 38, 39). Nous ne pouvons pas aimer Dieu sans aimer en même temps notre prochain, parce que l'amour de Dieu renferme l'amour du prochain : « Si quelqu'un dit : J'aime Dieu, et qu'il haisse son frère, c'est un menteur. Car celui qui n'aime point son frère qu'il voit, comment peut-il aimer Dieu qu'il ne voit pas ? Que celui qui aime Dieu aime aussi son frère. » (I Jean, IV, 20, 21). Nous devons aimer notre prochain parce que, malgré ses défauts, il est une des plus nobles créatures de Dieu, fait à son image et à sa ressemblance, et destiné à devenir avec nous le cohéritier du royaume du ciel pendant toute l'éternité. Nous devons pardonner à nos ennemis, de tout notre cœur, les injures qu'ils nous font. Nous voulons obtenir de Dieu le pardon de nos péchés, mais Dieu exige comme condition de ce pardon, que nous pardonnions à ceux qui nous ont offensés. C'est ce qu'il nous enseigne dans la parabole des dix talents. Le maître remet à son serviteur une forte somme, mais le serviteur refuse de remettre à son frère en servitude une dette minime. Mais quand le maître apprit ceci, il blâma sa conduite et le livra aux tortures jusqu'à ce qu'il eût payé toute la dette. Notre-Seigneur ajoute : « C'est ainsi que vous traitera aussi mon Père céleste, si chacun de vous ne pardonne à son frère du fond du cœur. » (Math., XVIII, 35.) Pour imprimer dans nos esprits combien nécessaire est ce devoir de pardonner, il nous recommande de dire dans nos prières de chaque jour : « Par-

donnez-nous nos offenses comme nous pardonnons à ceux qui nous ont offensés. » Il nous assure aussi que si nous pardonnons à nos ennemis, il nous pardonnera certainement nos offenses : « Car si vous remettez aux hommes leurs offenses, votre Père céleste vous remettra aussi vos péchés. » (Math., VI. 14).

Il ne suffit pas de pardonner à nos ennemis, nous devons leur souhaiter du bien et prier pour eux : « Bénissez ceux qui vous maudissent et priez pour ceux qui vous calomnient, » dit Notre-Seigneur dans l'évangile de Saint Luc. (Luc, IV. 28). En Saint Mathieu, le Sauveur répète la même chose, mais d'une manière plus frappante : « Vous avez appris qu'il a été dit : vous aimerez votre prochain et vous haïrez votre ennemi. Et moi je vous dis : aimez vos ennemis, faites du bien à ceux qui vous haïssent, et priez pour ceux qui vous persécutent et qui vous calomnient, afin que vous soyez les enfants de votre Père qui est dans les cieux, qui fait lever son soleil sur les bons et sur les méchants, et qui fait pleuvoir sur les justes et sur les injustes. » (Math., V, 43, 44, 45.). Aucun précepte ne revient plus souvent et n'est plus instamment recommandé, tant dans l'Ancien que dans le Nouveau-Testament, que celui de l'amour du prochain et du pardon des injures ; et Dieu mesurera sa miséricorde à notre égard sur notre charité pour le prochain : « Prenez garde à ce que vous entendez : on se servira envers vous de la mesure dont vous vous serez servis envers les autres. » (Marc. IV. 24). Et en Saint Luc, Notre-Seigneur répète la même injonction avec plus de détails : « Ne jugez point, vous ne serez point jugés ; ne condamnez point et vous ne serez point condamnés ; pardonnez et l'on vous pardonnera ; donnez et vous recevrez ; on versera dans votre sein une bonne mesure et pressée et bien secouée et se répandant pardessus les bords. Car on se servira envers vous de la même mesure dont vous vous serez servis envers les autres. » (Luc, VI, 37, 38).

Connaissant la difficulté que les hommes éprouvent à

se conformer à ce commandement. Notre-Seigneur ajoute aux multiples exhortations de la Sainte-Ecriture le grand exemple de sa propre vie, exemple que nous devrions toujours avoir sous les yeux comme un modèle à imiter. Trahi au jardin des oliviers, il consent à baiser le traître : quand saint Pierre blesse de son épée un homme de la populace qui veut se saisir de lui, Jésus fit un miracle pour le guérir ; après avoir été battu de verges, couronné d'épines et enfin cloué à une croix, lui qui avait pu défier le monde de trouver en lui l'ombre même d'une faute, il exhala le dernier soupir en prononçant des paroles de bénédiction et de pardon : « Aujourd'hui même vous serez avec moi en paradis : » « Mon Père, pardonnez-leur, car ils ne savent ce qu'ils font. » Or, puisque notre chef et notre Modèle a tant fait pour nous et pour nous sauver des conséquences redoutables du péché et qu'il nous a faits les héritiers de son royaume céleste, ne devrions-nous pas faire quelques légers sacrifices, par amour pour lui, pour le bien de notre prochain ? Quelle consolation à l'heure de notre mort que de pouvoir dire : pendant notre vie nous avons pardonné à nos ennemis et nous avons prié pour eux. A cette heure redoutable, avec quelle confiance invoquerons-nous l'assistance de Celui qui a promis que celui qui aura pardonné recevra le pardon, que celui qui n'aura point jugé ne sera pas jugé, et que celui qui n'aura pas condamné ne s'entendra pas condamner.

Cette lettre pastorale sera lue dans toutes les églises du Diocèse, le premier dimanche ou, après sa réception, le Prêtre fera l'office divin.

✠ THOMAS-F. BARRY,

Evêque de Chatham.

Chatham, N. B., 16 février 1909.

Fête de la Commémoration de la Passion de Notre-Seigneur.

LOUIS-J. O'LEARY,

Secrétaire.



*(Circular.)*

CHATHAM, N. B., May 4th, 1909.

REVEREND FATHER. —

We beg to inform you that the Spiritual Retreat for the Reverend Clergy will be held in the Sacred Heart College at Caraquet and will commence on Wednesday, July 7th. The preacher of the Retreat will be the Rev. William Hogan, C. SS. R. Kindly make all necessary preparations to be present, as no one is exempt from taking part in the Diocesan Retreat without express permission from the Bishop. As usual during the Retreat priests will be at Grand Falls, St. Basil, Chatham, Newcastle, St. Louis, Rogersville, Caraquet, Campbellton and Bathurst.

Confirmation will be given this summer in the Counties of Kent and Northumberland. As the Plenary Council at Quebec may interfere with the regular confirmation tour, We have decided to confirm in the following missions during the month of June, viz: St. Margarets, Kouchibouguac, St. Louis, Richibucto, Big Cove, Bass River, St. Charles, St. Ignatius, Acadieville, Kent Junction, Rogersville, Rosaireville and Barnaby River. Later on in the summer and after the ecclesiastical retreat confirmation will take place in the other missions of the County of Northumberland of which due notice will be given.

Owing to the frequent demands for matrimonial dispensations in the second degree of consanguinity (first cousins)

We have concluded to grant such dispensations in extreme cases only and for the gravest of reasons. Moreover to prevent such marriages we will return to the former tariff, viz : \$80.00, as near as possible, and would request the Reverend Pastor not to diminish it too easily without consulting the Ordinary and explaining the circumstances in each case. Dispensations for impediments *mixtae religionis* and *disparitatis cultus* will not be granted at all or only in very rare and exceptional cases.

Finding that some irregularities have crept in the matter of Church Insurance, We will bring this matter up at the Ecclesiastical Retreat and endeavor to find some uniform rule by which all shall be governed.

Yours very truly in Xto.

+ THOS.-F. BARRY.

Bishop of Chatham.

*(Circular)*

CHATHAM, N. B., July 5th, 1909.

REVEREND FATHER. —

The Holy See through His Excellency, the Most Rev. Donatus Sbarretti, Apostolic Delegate, having called a Plenary Council of Canada to open solemnly at Quebec on Sept. 19th of this year, it becomes our duty as faithful children of the Church to cooperate in every way in bringing this movement to a successful issue. The Archbishops, Bishops and Ecclesiastical Dignitaries of the various Dioceses of Canada, with the theologians chosen by them, will alone take an active part in the deliberations of the Council, but the Rev. Pastors, Religious communities and Faithful Laity may materially aid these deliberations by their good prayers.

We would request the Pastors of Our Diocese, therefore, to explain as fully as may be to their people, the nature and importance of the various ecclesiastical Councils, and the great utility of the present Council in particular. It will be the most important event in Church History of Canada up to the present and will no doubt be very efficacious in removing all danger of false doctrines being taught in the churches of our country, in introducing a greater uniformity of discipline and direction on the part of the Canadian Clergy, in binding in closer friendship and unity the scattered groups of our Catholic people and in manifesting our

unswerving loyalty to Holy Mother Church and to the Vicar of Christ on earth.

Exhort your people to pray earnestly in private for the success of the Council and let public prayers, in the form of a « Pater and Ave » after the principal Mass on Sunday, be recited in every church in the Diocese from the time of the reception of this letter until the end of the Council. Also, according to the desire expressed by His Excellency, the Apostolic Delegate, a solemn fast of obligation will be observed on Friday the 10th day of September next for the same purpose.

This circular will be read at the parish Mass, on the first Sunday after its reception.

Yours very truly in Xto.

+ THOS.-F. BARRY,

Bishop of Chatham.

REPORT OF CONFERENCE  
AFTER THE RETREAT AT CARAQUET

JULY 13TH, 1909.



I. ABSENCE FROM MISSIONS. — His Lordship, Bishop Barry, particularly for the benefit of the younger priests who were not present at the former Conferences, recalled to mind the regulation of the Council of Halifax which forbids any priest to leave the district in which he has the care of souls for more than forty-eight hours without permission. He wished to insist upon the observance of this regulation excepting, however, when a priest leaves his mission to assist a fellow-priest during the Forty-Hours, the Easter and Christmas Missions, and other similar cases. Permission must be obtained from the Ordinary, and in the case of Assistants the Pastor's permission does not suffice. When a Pastor wishes to be absent over Sunday he must arrange with some other priest to replace him and in writing for permission to leave should state that he has made such arrangement.

II. CHURCH BOOKS. — The Pastors were requested to keep all their Church Books in order as His Lordship still had the intention of sending a priest to the various Missions to examine all the books and to report on the same. He had been hindered from doing so up to the present because of the scarcity of priests but would do so as soon as possible.

III. MATRIMONIAL DISPENSATIONS. — In future dispensations in the second to second degree of consanguinity, in

*Mixed Religion* and *Difference of Cult* would be given only for very exceptionable reasons. A threat to go before the magistrate or Non-Catholic Minister would not be considered sufficient. When writing for dispensations the priests should be careful to give the canonical reasons for the granting of the dispensation. In a dispensation in *Mixed Religion* or *Difference of Cult*, should the non-catholic party refuse to sign the promises, the dispensation could not be put into execution until they did.

IV. MARRIAGE LAW. — His Lordship recalled the fact that the Letter publishing the New Marriage Law contained in the Decree *Ne temere* directed that this law should be read once a year for three years and recommended that it be explained even two or three times a year. The Pastors should insist upon the invalidity of marriage outside the Church, and the necessity of the Pastor and two witnesses for catholics as also for a mixed marriage with a dispensation. In case of revalidation of a marriage already attempted the witnesses were required.

V. INSURANCE. — In future all Church Property must be insured simply in the name of the Episcopal Corporation, « The Roman Catholic Bishop of Chatham, » and there must be no clauses in favor of the Pastor, such as « as his interests may appear » or anything similar.

VI. KEY OF TABERNACLE. — The key of the tabernacle is often left in the tabernacle door or on the altar even when the Most Blessed Sacrament is in the Tabernacle. This should no longer be done and if the priests do not carry the key with them they should see that it is kept in a safe place. Attention was also called to the care and cleanliness of altar linens and the sacred vessels.

VII. CHURCH DEBTS. — The priests are forbidden to contract any Church Debts for any Church Works whatso-

ever without a *written* authorization from the Bishop. If they do so the debts will not be recognized by the Bishop and they will have no claim for compensation. This rule does not include, however, the ordinary current expenses of the Church.

Chatham, N. B., July 20th, 1909.

LOUIS O'LEARY,

Secretary.

CHATHAM, N. B., August 28th, 1909.

REV. FATHER, —

We beg to make known to you that The Holy Father has issued a Decree, through His Eminence Cardinal Merry del Val, Secretary of State, granting a Plenary Indulgence to the faithful on the occasion of the First Plenary Council to be held shortly in Quebec. We are forwarding to you a copy of the Decree and would request you to kindly make it known to your people and to explain the conditions required for the gaining of the Indulgence.

Yours very truly in Xto.

† THOS.-F. BARRY,

Bishop of Chatham.



## PIUS PP. X.

UNIVERSIS CHRISTIFIDELIBUS presentes Litteras inspecturis, salutem et apostolicam benedictionem. Retulit ad Nos Venerabilis Frater Donatus Sbarretti, Archiepiscopus Ephesiensis et Delegatus Apostolicus in Canadensi Dominio, die decima nona et sequentibus adventantis Septembris mensis diebus, in Metropolitano templo Quebecensi primam plenariam Episcoporum Canadensium Synodum a se esse indicendam ac regendam: eoque auspiciatissimo eventu in votis admodum sibi esse, ut coelestes Ecclesiae thesauros, quos Romano Pontifici diribendos Altissimus credidit, reserare benigne dignemur. Nos autem votis his piis quae in spirituale christiani populi emolumentum cedunt, quantum in Domino possumus, annuentes, de Omnipotentis Dei misericordia ac BB. Petri et Pauli Apostolorum Eius auctoritate confisi, omnibus et singulis fidelibus ex utroque sexu, qui uno die, ad cuiusque eorum lubitum semel tantum eligendo, intra spatium memorati Concilii, admissorum confessione expiati, atque angelorum epulis refecti, vel Metropolitanum templum, quod memoravimus, vel aliud quodlibet e Curialibus intra fines Domini Canadensis sitis, visitent, ibique pro Christianorum Principum concordia, haeresum extirpatione, peccatorum conversione, ac S. Matris Ecclesiae exaltatione pias ad Deum preces effundant, quo die id agant, pleniarum omnium peccatorum suorum Indulgentiam et remissionem, quam etiam animabus Christifidelium, quae Deo in caritate coniunctae ab hac luce migraverint per modum suffragii applicare possint, misericorditer in Domino concedimus et largimur. Contrariis non obstantibus quibuscumque. Praesentibus unice tantum. Volumus autem,

ut praeventium Litterarum transumptis, seu exemplis etiam impressis, manu alicuius notarii publici subscriptis, et sigillo personae in ecclesiastica dignitate constitutae munitis, eadem prorsus fides adhibeatur, quae adhiberetur ipsis praesentibus, si forent exhibitae vel ostensae. Datum Romae apud S. Petrum sub anulo Piscatoris die XIX Julii MDCCCXCIX Pontificatus Nostri Anno Sexto.

L. S.

(Signatus) R. Card. Merry del Val,

a Secretis Status.

(Circular)

CHATHAM, N. B., Nov. 17th, 1909

REVEREND FATHER --

It was decided at the Plenary Council of Quebec that the expenses of the Council should be divided among the various Dioceses *pro rata* of the Catholic population. The amount apportioned to the Diocese of Chatham, including printing of the Schemata, &c. to date, will be between \$500 and \$600, which amount We will have to raise immediately. We have thought that a collection taken up in each Mission would be the simplest and easiest way of obtaining the required sum, and therefore request you to kindly make this collection as soon as possible, no later than Christmas.

We desire to inform you that We have made a collection of all the Pastorals, Circulars, and other important Documents sent to the priests during Our administration of the Diocese up to the present year, and have had the same published in book form. We would like to see a copy of this book in each Presbytery of the Diocese as well as in the personal library of each priest. The cost of these books has been \$1.10 per copy and any priest wishing to have one may obtain it by sending that amount to the Chancellor.

Yours truly in Xto,

+ THOS.-F. BARRY,

Bishop of Chatham.

CHATHAM, N. B., January 22nd, 1910.

REVEREND FATHER, -

We desire to inform you that We have received from the Sacred Congregations the renewal for *three years only* of all the extraordinary faculties, with a few exceptions, which We before had for *five* years. In virtue therefore of the Indults, bearing date Nov. 20th, 1909, received from the Holy See, We renew for three years from that date all the faculties given you in the list dated May 29th, 1905, and as explained by the letter that accompanied the said list, with the following exceptions:

1st.—Faculty No. 31, for celebration of Requiem Mass twice a week, has not yet been renewed. If We receive a favorable reply to Our application We will notify you thereof.

2nd.—Faculty No. 32 for using the short form in Baptism, is renewed for *two years only* from Nov. 27th, 1909, as such is the tenor of Our indult.

All other faculties remain as before except that in citing them for dispensations they should be cited as granted *ad triennium* and not *ad quinquennium*.

In virtue of Apostolic Faculties received from the Holy See We grant the same dispensations in the Lenten Fast and Abstinence as last year so that the Lenten Regulations this year will be the same as former years.

Yours truly in Xto,

+ THOS.-F. BARRY,

Bishop of Chatham

CHATHAM, N. B., January 22nd, 1910,

REVEREND FATHER,—

Since giving the accompanying circular to the printers, We have received notification of the renewal of Faculty 31. for saying Requiem Mass twice a week, for *five years* from date, i. e. 22nd December, 1909. In virtue of this Indult We renew said Faculty for *five years* from the date thereof, that is until December 22nd, 1914, with this additional clause «*dummodo huius concessionis intuitu nihil omnino præter consuetam eleemosynam percipiatur; servatis de cetero Rubricis*» which is expressed in Our new Indult.

Yours very truly in Xto,

+ THOS.-F. BARRY

Bishop of Chatham.

## CENSUS LIST

---

Parish or Mission

Pastor

No. of English speaking families according to standard of

1st — Household or « feux »

2nd — Married couples, widow or widower  
with families, etc.

No. of French speaking families according to standard of

1st — Household or « feux »

2nd — Married couples, widow or widower  
with families, etc.

No. of Italian families according to standard of

1st — Household or « feux »

2nd — Married couples, widow or widower  
with families, etc.

No. of other Catholic families according to standard of

1st — Household or « feux »

2nd — Married couples, widow or widower  
with families

Total number of Catholic families according to standard of

1st — Household or « feux »

2nd — Married couples, widow or widower  
with families, etc.

Total number of communicants

Total number of non-communicants

Total number of non-catholic families approximately

(in as far as possible)

(Circular)

CHATHAM, N. B., January 5th, 1910.

REVEREND FATHER,

We are desirous of having an exact census of each parish and mission in the diocese and therefore request you, if you have not already recently done so, to ascertain the exact number of families at present residing in your parish and missions so as to fill in the enclosed lists, one for each parish and one for each mission, with church either erected or in course of construction. Kindly have the lists completely filled and exact in every particular and return to the chancellor, Rev. Dr. L. J. O'Leary, by the first of March next.

In order to obviate any misunderstanding we would request that you state the exact number of families according to two distinct standards:

1st, the number of households or « feux »

2ndly, the number of families including as such :

- (a) 1st, All married couples.
- (b) 2nd, Widow or widower with families.
- (c) Brothers and sisters when living together in numbers of two or more and keeping house.

Wishing you and all your people a very happy and prosperous New Year,

I remain

Yours truly in Xto.

+ THOS.-F. BARRY,

Bishop of Chatham.

# PASTORAL LETTER

OF

THE RT. REV. THOS.-F. BARRY, D. D.,

BISHOP OF CHATHAM

---

THOMAS FRANGIS, BY THE GRACE OF GOD AND FAVOR  
OF THE APOSTOLIC SEE, BISHOP OF CHATHAM :

*To the Reverend Clergy, Religious Communities  
and Faithful Laity of the Diocese of Chatham,  
Health and Benediction in the Lord.*

« THOU SHALT NOT COMMIT ADULTERY. » — Exodus, XX, 14.

« THOU SHALT NOT COVET THY NEIGHBOR'S WIFE. » —  
Exodus, XX, 17.

DEARLY BELOVED,

After life nothing is dearer to man than his honor, and many noble souls would willingly sacrifice the former in order to preserve untarnished the latter. Hence in the Decalogue the fifth commandment, which protects the natural life of man's body, is immediately followed by the sixth which safeguards the chaste life of his soul. To the sixth may be added the ninth commandment as both of them relate to the same object and tend to the same end, viz : the directing and



regulating of our conduct with regard to sensual pleasures. The former forbids all impure actions, «Thou shalt not commit adultery,» (Exodus, XX, 14). The latter forbids every sinful thought and desire, «Thou shalt not covet thy neighbor's wife,» (Exodus, XX, 17).

Like all the other divine precepts the sixth and ninth commandments have a two-fold obligation:— the one expressly forbidding all kinds and degrees of impurity in thought, word and deed: the other implicitly commanding us to observe continence and to cultivate chastity of mind and body.

### 1st. The Prohibitive Part

The prohibitive part of these commandments forbids not only every unlawful carnal pleasure in thought, word and deed, but everything that would be an occasion of such sinful pleasures and incite us to them. Such are indecent familiarities, immodest looks and touches, impure words and conversations, lascivious songs, plays and comedies, immoral books and novels, dangerous company-keeping, unbecoming dress, improper mixed dances, excess in eating and drinking, and such like. All these things tend to arouse impure passions which, when deliberately entertained and consented to, defile both body and soul and are grievously offensive in the sight of God as is evident from many declarations of Holy Scripture and of the Saints and Fathers of the Church.

Sins against the sixth and ninth commandments are a great injury to God the Father, because they corrupt and destroy the masterpiece of God's creation, and particularly the soul made to His image and likeness. They are an outrage offered to God the Son, for they pollute His members: «Know you not,» says St. Paul, «that your bodies are the members of Christ? Shall I then take the members of Christ and make them the members of a harlot? God forbid. . . or know

you not that he who is joined to a harlot is made one body?... but he who is joined to the Lord is one spirit. Fly fornication.» (1 Cor. VI, 15). They are a profanation of the dwelling place of God the Holy Ghost, which is our bodies: «Know you not that your bodies are the temple of the Holy Ghost, Who is in you, Whom you have from God? And you are not your own, for you are bought with a great price.» (1 Cor., VI, 18-19). And again the Apostle says: «Know you not that you are the temple of God and the Spirit of God dwelleth in you? But if any man violate the temple of God, him shall God destroy. For the temple of God is holy, which you are.» (1 Cor., III, 16-17). Thus the vice of impurity constitutes a special injury against each of the three Persons of the Holy Trinity. Great indeed must be the malice of the sin which excludes from Heaven a soul redeemed by the sufferings and death of the God-man. Nevertheless our Blessed Redeemer tells us that «God Himself will judge fornicators and adulterers» and that they shall never enter into the Kingdom of Heaven -- «Be not deceived: neither fornicators... nor adulterers, nor the effeminate, nor liars with mankind... shall possess the Kingdom of God.» (1 Cor., VI, 9). «For know ye this and understand that no fornicator nor unclean, nor covetous person hath any inheritance in the Kingdom of Christ and of God.» (Eph., V, 5)

Frequently in Holy Writ the Almighty makes known His hatred of these sins by calling them «abominations» and «detestable things,» and declares that «every soul that shall commit any of these abominations shall perish from the midst of the people.» (Levit., XVIII, 29). In another place He says the «abominable shall have their portion in the pool burning with fire and brimstone, which is the second death.» (Apoc., XXI, 28). The sins against these two commandments are called by Holy Job «a heinous crime and a most grievous iniquity, a fire that devoureth to destruction.» (Job, XXI, 11). In the Book of Ecclesiastics, which treats

in an admirable way of the virtues which the people of God should practise and the vices they should shun, we read the following admonitions : « Every man that passeth beyond his own bed, despising his own soul, and saying : Who seeth me ? Darkness encompasseth me about ; and the walls cover me ; and no man seeth me : Whom do I fear ? The Most High will not remember my sins . . . And he knoweth not that the eyes of the Lord are far brighter than the sun, beholding round about all the ways of men, and the bottom of the deep, and looking into the hearts of men, into the most hidden parts . . . This man shall be punished in the streets of the city : . . . and where he suspected not, he shall be taken. And he will be in disgrace with all men, because he understood not the fear of the Lord. So also every woman that leaveth her husband for another. For she hath been unfaithful to the law of the Most High : and hath offended against her husband. She shall leave her memory to be cursed, and her infamy shall not be blotted out, and they that remain shall know, that there is nothing better than the fear of God : and there is nothing sweeter than to have regard to the Commandments of the Lord. » (Eccl. XXIII, 25, &c.).

The Doctors of the Church are unanimous in teaching that the vice of impurity is the cause of the spiritual ruin of the greatest number of souls. St. Thomas tells us that there is no sin in which the devil delights so much as in sins against chastity : and the reason he gives is that this sin so blinds the sinner that he commits it oftener than any other and without remorse, and once addicted to it he cannot without great difficulty be delivered from it. St. Jerome asserts that there is « nothing more vile or degrading than allow one's self to be conquered by the flesh. » St. Alphonsus assures us that « even the Pagans held impurity to be the worst of vices. » Seneca says, « Impurity is the greatest evil of the world. » Cicero writes, « There is no plague so fatal as bodily pleasure. » And, to quote the Saints again, St.

Isidore says, « Run through all the sins, you will find none equal to this crime. »

The law of nature written in every man's heart tells him that it is wrong to defile his soul and body by sensuality, and every christian soul yet unsullied by crime naturally recoils from the commission of such sins in thought, word or deed.

#### ON EVIL THOUGHTS.

We may ask whether it be sinful to have evil thoughts. No, certainly not, if we do not consent to them or expose ourselves unnecessarily to the occasion of them. Evil thoughts may be only a temptation, and it is not a sin to be tempted. Our Saviour Himself, who was incapable of sin, was tempted for our instruction and consolation. Many of the greatest saints were violently tempted, but they consented not to the temptations and therefore sinned not. For your instruction in this matter we will quote the words of the learned and pious Bishop Hay :

« We must carefully observe, » he says, « the difference between the temptation of evil thoughts and the sin committed by them. When evil thoughts of whatever kind come into our mind without our giving occasion to them, though they remain there ever so obstinately against our will, yet they are not sinful ; they are the temptations by which the devil endeavors to draw us into sin, but in themselves they are not sins, because not wilful : for though they be in our mind, they are there against our will, forced upon us by the malice of our spiritual enemies. Now if we behave as we ought under them, instead of injuring our soul they will be of profit to us, because the fidelity we show to God in resisting them will increase His grace in our soul, obtain a more ample reward for us in Heaven, and serve to implant the contrary virtues more deeply in our hearts. The sin committed by evil

thoughts arises from making these thoughts our own. When they obtrude themselves against our will, and we continue to abhor and reject them, they are not ours but the darts of the enemy seeking to ruin us, and we are not accountable for them: but when by the consent of our will they become our own, then we commit sin by them. Now this is done in different ways: 1stly — If we love the evil object and willingly take pleasure in thinking on it. In this sense the Scripture says, 'Evil thoughts are an abomination to the Lord.' (Prov., XV, 26) and 'perverse thoughts separate from God.' (Wis., I, 3). 2ndly — If we consent to the evil with our will, though we go no further, or if we consent to its being done by others, we immediately become guilty before God. Hence the admonition: 'Take heed that thou never commit sin, nor transgress the commandments of the Lord, thy God,' (Tob., IV, 6), for 'they who do such things are worthy of death: and not only they that do them but they also that consent to them that do them.' (Rom., I, 32). 3rdly — The sin becomes still greater if we go farther and desire the evil object, and this is what is expressly and directly forbidden by the ninth commandment. 4thly — We also sin by thought when we rejoice at any evil whether done or intended to be done by ourselves or others. \*

As we can never be secure against evil thoughts and temptations we must always be on our guard and ever ready all the days of our life to fight against them when occasion arises. Holy Job says: «The life of man upon earth is a warfare.» (Job, VII, I). The means by which we may overcome evil thoughts are chiefly the following: 1st — To keep a constant vigilance over the movements of our heart — «with all watchfulness keep thy heart, because life issueth out from it.» (Prov., IV, 23). 2nd — Promptly and resolutely to drive away the first evil suggestion as you would throw off a burning spark from your clothes. 3rd — To have recourse to the protection of the Immaculate Virgin Mary. 4th — To think of

the presence of God Who sees and knows all things, and place entire confidence in Him, knowing that He is faithful and will not «suffer us to be tempted above that which we are able, but will make with temptation issue that we may be able to bear it.» (1 Cor., X, 13). 5th — To despise the evil suggestion and to divert our thoughts to other subjects especially the sufferings and cruel death of Christ on the Cross for our sanctification and redemption. «Have confidence in the Lord with all thy heart and lean not upon thy own prudence. In all thy ways think on Him and He will direct thy steps.» (Prov., III, 5)

#### ON IMMODEST LANGUAGE AND SONGS.

If we have to watch over our thoughts and desires, we are still more strictly bound to watch over our words and language lest injury and scandal to others should follow from them. Of all the artifices which our arch-enemy, the devil makes use of to destroy souls there is none more effectual than immodest words and discourses and lascivious songs. And yet there are many christian people who make use of such language daily and hourly without dread of God or fear of the awful consequences which follow from such conduct, especially for the disedification of youth and all within hearing of this foul language. Others instil the poison of impurity more covertly, but not less effectually, by using words of double meaning. St. John Chrysostom compares the tongues of such persons to the «tongues of the devil,» and says that there are many young boys and young girls who, from being angels of purity and innocence, became agents of Satan by listening to immodest discourses, lascivious songs and words of double meaning. What a terrible warning for grown up people and especially for parents who do not hesitate to make use of such vile language even in the presence of innocent little children. They should remember the exam-

ple of Our Blessed Savior, when preaching to the multitude, on the danger of scandal. He pointed to a little child and said to them : that it would be better to be plunged in the depth of the sea than to scandalize one of these little ones. » St. Stanislaus and St. Aloisius immediately left the company of their companions when a single immodest word was uttered in their presence. So painful were immodest words to St. Bernardine that his friends took care never to make use of improper language in his presence.

#### ON IMMODEST BOOKS, PLAYS AND COMEDIES.

The senses are the avenues or gates to the soul, and through the eyes more than through the other senses do sinful objects seek an entrance into the soul. The sight is the quickest of all the senses, and makes the strongest impression on the heart. When the eyes are allowed to rest upon indecent objects, forbidden pictures and such like, when they encounter immodest scenes in plays and comedies they always tend to enkindle in the heart the slumbering cinders of unchaste love, and cause the spiritual ruin of innumerable souls. Comedies and other representations of that sort, moving pictures and such like, at which young children are often allowed to assist without the slightest concern on the part of parents as to what these pictures may be or what scenes they may represent, are most frequently very dangerous and the fruitful source of demoralization for children and others. Frequently vice is represented in these plays in the most attractive form, while christian virtue and modesty are held up to contempt and scorn. In comedies and plays, not subject to proper supervision, there is nearly always something that is hurtful to modesty in the words spoken, in the dresses used and in the attitudes assumed by the players. « It is at plays », says St. Jerome, « that we see fulfilled the prophecy of Jeremias — *'Death enters through the windows of the soul.'* — that is, through seeing and hearing

that which should not be seen or heard. » Holy Mother Church exhorts her children to keep away from such plays especially during holy seasons of the year consecrated to work of penance and pious meditation on the sufferings and passion of Our Blessed Redeemer.

#### ON DANGEROUS FAMILIARITIES, NIGHT INTERVIEWS AND MIXED DANCES.

It is in these freedoms and familiarities, during these interviews and dances that the virtue of many a young person is completely shattered. St. Jerome calls such pleasures and amusements « the forerunners of the ruin of chastity. » All the Fathers of the Church repeat the same warnings and in the clearest language denounce these indiscreet familiarities and nightly interviews as most dangerous to Christian youth. The Holy Ghost tells us « that he who sins likes darkness and hates the light, » because night is favorable to his wicked designs. Rarely indeed, if ever, do young people leave such parties as innocent as they entered them, for we are assured that he who loves the danger shall perish in it. Those who have the fear of God strongly impressed upon their hearts will carefully avoid these night assemblies and improper mixed dances as so many dangerous occasions of sin. Under the eyes of parents, a mother, or a guardian, they may be safe, but if, trusting to their own guidance, they frequent such amusements, the enemy of their salvation will undoubtedly surprise them.

#### ON NOVELS AND BAD BOOKS.

There are many of these works openly obscene, but the greater number have their poison concealed under a fair and modest exterior and thereby become more dangerous. Were they openly lewd they would create an aversion to



them in souls who have some shame and conscience left. Covertly immoral novels on the contrary attract the mind of the unguarded and unreflecting reader by their fair discourses and pleasing descriptions. They delight the sense and gradually inflame the heart with impure love. St. Theresa who was a saint even in her childhood, tells us what happened to her from imprudent reading. "There were some novels and romances in our house," she says; "I began to read them and gave myself up entirely to this reading, and I fell into many sins." If such books are in your houses you should get them away. Say not that they are well composed and beautifully written and that from them you learn correct language and derive useful information. To this reasoning St. Augustin replies: "All this is but a fair pretext by which you deceive yourself, for by these wicked books we learn not to speak well but only to become wicked and to commit sin with less restraint." (*Moeller, passim*).

## 2nd. The positive or Mandatory Part

By the positive part of these Commandments we are obliged to observe continence and to cultivate chastity of mind and body. Chastity is the virtue most pleasing to God, and all are called to practise it in their respective states, in the married as well as in the single life. It is the virtue in the practice of which our sanctification in a special manner consists. "This is the sanctification, that you abstain from fornication," says St. Paul. "He that should know how to possess his vessel as the Lord's member, should know how to possess his vessel as the Lord's member, to bring forth fruit to God, not in the possession of lust but in the possession of holiness; for God has not called us to uncleanness, but to holiness; therefore he that despiseth the body despiseth not man but God." (1 Thes. IV. 3). Chastity is a superhuman perfection and divine in its origin, for God brought it from Heaven to earth. Jesus Christ while on

birth showed a distinct predilection for this virtue and for  
 those who practised it. He chose a most pure Virgin for His  
 Mother, and a man of angelic purity for His Foster-Father,  
 St. Joseph. St. John the Baptist, was sanctified in his  
 mother's womb; the chaste St. John was His beloved disciple,  
 and all the other Apostles by being allowed  
 the last Supper to rest his head on the Savior's breast;  
 and all were always His favorites upon earth on  
 account of their innocence and purity. At His death, He  
 committed His Mother to none but His Virgin  
 Mary. The Jews, the chosen people of God, ever  
 in many cases punished by death  
 for their sins. The pagan Romans had their  
 Vestal Virgins who served in the temples and received  
 extraordinary honors. Now if  
 the Jews and pagans gave extraordinary honors to their  
 chaste women, who preferred virginity to the married state,  
 how much more should Christian parents feel honored and take legitimate  
 pleasure in seeing their children, through supernatural motives,  
 leading a life of virginity? Even in Heaven those who  
 have led a chaste life upon earth will enjoy special  
 affection. They have the names of their Father and of the  
 Lamb written on their foreheads. They follow the Lamb  
 whithersoever He goes. They sing a new canticle of praise  
 which no other can sing. \* And I beheld as St. John  
 said, a Lamb stood upon Mount Zion. With Him a  
 hundred and forty-four thousand, having His name and the  
 name of His Father written on their foreheads . . . and they  
 sang as it were, a new canticle before the throne . . . and no  
 man could say the canticle but those hundred and forty-four  
 thousand, who were purchased from the earth. These are  
 they who were not defiled with women; for they are Virgins.  
 These follow the Lamb whithersoever He goeth; these were  
 purchased from among men, the first fruits to God and to  
 the Lamb. \* (Apoc., XIV). Chastity is an angelic virtue and

those who lead a pure life are Angels in human form. They are in fact superior to the Angels, for they have the corrupt and downward tendency of human nature to combat which the Angels have not. How justly then may we exclaim with the inspired writer: « O how beautiful is the chaste generation with glory, for the memory of it is immortal: because it is known both with God and with man. » (Wis., IV. 1). Those who lead a life of chastity have the sanctifying grace of the Holy Ghost in greater abundance and consequently are better able to bear the crosses and contradictions of this life and resist the evil temptations of a perverse world.

In the Book of Canticles those who practise this virtue are compared to the lily. (Cant., II). As rough handling spoils so fair a plant and causes it to wither, so the Christian who lives chastely suffers from indiscriminate intercourse with those around him, and easily stains the purity of this lily and disfigures its beauty. As the lily fills the whole house with its fragrance and gives an agreeable aroma to the air all around it, so the chaste person pleases and edifies the entire circle of his acquaintance by his manners and good example.

#### MEANS TO PRESERVE CHASTITY.

In order to preserve chastity we must: 1st -- Endeavor by all possible means to avoid the occasion of sin against this virtue. Undue familiarities, bad books and the other dangers to which we have above referred are nearly always proximate occasions of sin, and « He that loveth the danger, » says the Lord, shall perish in it. » (Eccl., III, 27.). According to St. Bernardine of Sienna, it is a greater miracle not to fall when in the proximate occasion of sin than to raise a dead man to life. And St. Philip of Neri says that « in the warfare of the flesh, cowards, that is they who fly from the

occasion, are alone victorious. » God, Who is always faithful to come to our assistance when invoked, will not protect us when we wilfully and without necessity expose ourselves to the occasions of sin. 2nd — To have recourse to God for help as soon as we are assailed by evil thoughts and not to depend on our own strength. « As I know, » says the Wise man, « that I could not otherwise be continent, except God gave it. . . I went to the Lord and besought Him with my whole heart. » (Wis., VIII. 21). When an improper suggestion is made to the mind by the Evil One, we must immediately turn our thoughts to God, or to some indifferent object. An almost infallible way to get rid of impure temptations is to invoke the Names of Jesus and Mary and to continue to invoke them until the temptation ceases. These names have special power to banish evil temptations. 3rd — To frequent the Sacraments of Penance and Holy Eucharist. Holy Communion has great efficacy in giving strength to overcome every sort of temptation, especially those contrary to the holy virtue of purity. This sacrament is called the « Wine springing forth Virgins. » (Zach., IX. 17.) This wine is changed into the blood of Jesus Christ by consecration, and while earthly wine tends to arouse and strengthen the evil passions, this celestial wine subdues them and enables us to completely conquer them. 4th — Devotion to the Mother of God, who is called the « Virgin of Virgins. » To innumerable young people of both sexes has devotion to the Immaculate Virgin proved the means of maintaining themselves in angelic innocence. The saying of the *Hail Mary* three times in honor of the Immaculate Conception is a means frequently recommended by spiritual writers for the preservation of chastity, and many examples are given in their works of the efficacy of this devotion. 5th — Consideration on the great truths of religion, namely the shortness of time and the length of eternity. A moment of sensual pleasure may be speedily followed by an eternity of the most painful sufferings. « In

all thy works, remember thy last things and thou shalt never sin. » (Eccl., VII, 40.)

This Pastoral Letter shall be read in all the churches of the Diocese on the first Sunday after its reception that the priest shall officiate therein.

+ THOS-F. BARRY,

Bishop of Chatham

Chatham, N. B., February 2nd, 1910.

Feast of the Purification of Our Lady.

LOUIS O'LEARY,

Secretary.

# LETTRE PASTORALE

DE

SA GRANDEUR MONSIEUR THOS-F. BARRY,  
EVÊQUE DE CHATHAM.



THOMAS-FRANÇOIS BARRY, PAR LA MISÉRICORDE DE DIEU  
ET LA GRACE DU SAINT-SIÈGE APOSTOLIQUE,  
EVÊQUE DE CHATHAM.

*Au clergé séculier et régulier, aux Communautés  
religieuses et aux Fidèles du Diocèse de Chatham,  
Salut et bénédiction en Notre-Seigneur.*

(SIXIÈME ET NEUVIÈME COMMANDEMENTS DE DIEU.)

NOS TRÈS CHERS FRÈRES,

Il n'y a rien de plus cher à l'homme que son honneur, si ce n'est sa vie, et grand nombre d'âmes, éprises de la vraie noblesse, sacrifieraient volontiers cette dernière pour conserver leur honneur intact. Voilà pourquoi dans les commandements de Dieu, le sixième qui est la sauvegarde de la bonne réputation et de la pureté de l'âme, fait immédiatement suite au cinquième qui protège l'homme dans sa vie corporelle. Le neuvième commandement peut se rattacher au sixième puisque tous deux ont le même objet et tendent au même but qui est

de nous donner une direction, une règle de conduite par rapport aux plaisirs des sens. Le premier de ces deux commandements défend toute action impure : « Vous ne commettrez point de fornication. » (Ex., XX, 14). L'autre défend toute pensée et tout désir coupables : « Vous ne désirerez point la femme de votre prochain. » (Ex., 17).

Comme tous les autres commandements de Dieu, le sixième et le neuvième ont une double obligation : ils défendent expressément toute impureté de quelque espèce et de quelque gravité qu'elle soit, et ils nous ordonnent implicitement de garder la continence et d'être chastes de corps et d'esprit.

#### PREMIÈRE PARTIE. — PARTIE NÉGATIVE

La partie prohibitive de ces deux commandements ne défend pas seulement tout plaisir charnel illicite, en pensées, en paroles ou en actions, mais encore tout ce qui pourrait porter à ces satisfactions coupables ou y entraîner, comme les familiarités indécentes, les regards et les attouchements immodestes, les propos et les entretiens impurs, les chansons obscènes, les jeux et les spectacles immodestes, la lecture des livres et pamphlets immoraux, les mauvaises compagnies, les toilettes inconvenantes, les danses mixtes et lascives, les excès dans le boire et le manger, &c. Toutes ces choses ont pour effet d'exciter les passions impures qui souillent à la fois le corps et l'âme et, quand on s'y livre ou qu'on y donne son consentement, elles sont devant Dieu des fautes graves, comme le démontrent clairement plusieurs passages des Saints-Livres et les écrits des Saints et des Pères de l'Eglise.

Les péchés contre le sixième et le neuvième commandements font une grave injure à Dieu le Père, parce qu'ils corrompent et ruinent le chef-d'œuvre de sa création, qui est l'âme humaine faite à son image et à sa ressemblance. Ces péchés outragent Dieu le Fils, parce qu'ils souillent ses mem-

bres: « Ne savez-vous pas, dit saint Paul, que vos corps sont les membres du Christ ? Arracherai-je donc à Jésus-Christ ses propres membres pour les faire devenir les membres d'une prostituée ? A Dieu ne plaise. Ne savez-vous pas que celui qui se joint à une prostituée devient un même corps (avec elle) ? . . . Mais celui qui demeure attaché au Seigneur est un même esprit (avec lui). Fuyez la fornication. » (I Cor., VI, 15, 16, 17, 18). Ces péchés sont une profanation de nos corps dans lesquels réside Dieu le Saint-Esprit: « Ne savez-vous pas que votre corps est le temple du Saint-Esprit qui réside en vous et qui vous a été donné de Dieu, et que vous n'êtes plus à vous-mêmes ? Car vous avez été achetés d'un grand prix. » (I Cor., VI, 19, 20). Saint Paul dit encore: « Ne savez-vous pas que vous êtes le temple de Dieu, et que l'Esprit de Dieu habite en vous ? Si quelqu'un donc profane le temple de Dieu, Dieu le perdra. Car le temple de Dieu est saint, et c'est vous qui êtes ce temple. » (I Cor., III, 16, 17).

Le vice impur constitue donc une injure particulière contre chacune des trois personnes de la Sainte Trinité. Elle doit être bien grande en vérité la malice de ce péché qui exclut du ciel l'âme rachetée par les souffrances et la mort de l'Homme-Dieu. Et c'est ce Divin Rédempteur lui-même qui nous dit que « Dieu lui-même jugera les fornicateurs, et les adultères, et qu'ils n'entreront jamais dans le royaume du Ciel. » « Ne vous y trompez pas: ni les fornicateurs, . . . ni les adultères, ni les impudiques, ni les abominables . . . ne seront héritiers du royaume de Dieu. » (I Cor., VI, 9, 10). « Car sachez et comprenez que nul fornicateur, nul impudique, nul avare . . . ne sera héritier du royaume du Christ et de Dieu. » (Eph., V, 5).

En maints endroits des Saints-Livres, le Tout-Puissant fait connaître la haine qu'il porte aux péchés d'impureté, il les nomme « abominations » et « choses détestables, » et il déclare que « Tout homme qui aura commis quelque-une de ces abominations périra du milieu de son peuple. » (Lévit., XVIII,



29). Ailleurs il dit que « Le partage des exécrales sera dans l'étang brûlant de feu et de souffre, qui est la seconde mort. » (Apoc., XXI, 8). Le saint homme Job appelle le péché contre l'un ou l'autre de ces deux commandements « un crime énorme et une très grande iniquité, un feu qui dévore jusqu'à une perte entière. » (Job, XXXI, 16, 12). Au livre de l'Ecclésiastique qui traite admirablement des vertus que le peuple de Dieu doit pratiquer et des vices qu'il doit éviter, nous trouvons les avertissements suivants : « L'homme qui viole la loi du lit conjugal méprise son âme et il dit : Qui est-ce qui me voit ? Les ténèbres m'entourent. Ses murailles me couvrent, nul ne me regarde, qui craindrai-je ? Le Très-Haut ne se souviendra pas de mes péchés. . . Il ne comprend pas que les yeux du Seigneur sont plus lumineux que le soleil ; qu'il regarde de tous côtés toutes les voies des hommes, la profondeur des abîmes et le fond du cœur humain, et qu'il pénètre jusque dans les lieux les plus cachés. . . Cet homme sera puni dans les places publiques, et il sera pris lorsqu'il s'y attendra le moins. Il sera déshonoré devant tout le monde, parce qu'il n'a pas compris ce que c'était que de craindre le Seigneur. Ainsi périra encore toute femme qui abandonne son mari et qui lui donne pour héritier le fruit d'une alliance adultère. Car, premièrement, elle a désobéi à la loi du Très-Haut ; secondement, elle a péché contre son mari. . . Sa mémoire sera en malédiction, et son infamie ne s'effacera jamais. Et ceux qui viendront après connaîtront qu'il n'y a rien de plus avantageux que de craindre Dieu, et rien de plus doux que de n'avoir égard qu'aux commandements du Seigneur. » (Eccl., XXIII, 25, &c.).

Tous les Docteurs de l'Eglise s'accordent à enseigner que le vice impur est la cause de la ruine spirituelle du plus grand nombre d'âmes. D'après saint Thomas, il n'y a pas de péché dans lequel le démon se complaise autant que dans l'impureté, et la raison que le Saint en donne est que ce péché aveugle tellement le pécheur qu'il le commet plus souvent que tout autre et sans remords ; et une fois qu'il y est adonné, il

ne peut que très difficilement s'en corriger. — Saint Jérôme affirme « qu'il n'y a rien de plus vil et de plus dégradant que de se laisser vaincre par la chair. » — Saint Alphonse nous assure que les païens eux-mêmes estimaient l'impureté le pire des vices. — Sénèque dit que « l'impureté est le plus grand mal du monde, » et Cicéron a écrit « qu'il n'y a pas de fléau aussi funeste que les plaisirs de la chair. » — En revenant aux opinions des Saints, voici ce que dit saint Jérôme : « Passez en revue tous les péchés, vous n'en trouverez aucun qui égale ce crime. »

La loi naturelle qui est gravée dans le cœur de tout homme, lui dit qu'il est mal de souiller son âme et son corps par la sensualité, et il répugne naturellement à toute âme chrétienne encore pure et innocente de commettre semblable faute, par parole ou par action.

**DES PENSÉES MAUVAISES.** — On peut se demander si c'est un péché que d'avoir des mauvaises pensées. Non, certes, si on n'y donne pas de consentement et si on ne s'est pas exposé sans nécessité à ce qui peut les provoquer. Les pensées mauvaises peuvent n'être que des tentations, et ce n'est pas un péché que d'être tenté. Pour notre édification et notre consolation, Notre Sauveur lui-même, qui était pourtant impeccable, a subi la tentation, et plusieurs des plus grands saints ont été violemment attaqués par l'esprit méchant, mais sans jamais céder et, par conséquent, sans pécher.

Pour éclairer vos consciences sur ce sujet, Nous vous citerons les paroles du savant et pieux Evêque Hay : « Nous devons, dit-il, bien nous rendre compte de la différence qui existe entre la tentation des mauvaises pensées et le péché qu'elles peuvent nous faire commettre. Les pensées mauvaises, de quelque nature qu'elles soient, qui nous viennent à l'esprit, sans que nous les ayons provoquées d'aucune manière, ne sont nullement coupables, même si elles persistent et durent malgré la résistance de notre volonté. Elles sont des tentations

du démon qui veut nous entraîner au péché, mais en elles-mêmes elles ne sont pas des péchés, puisqu'elles ne sont pas volontaires ; car, bien que ces pensées occupent notre esprit, elles sont là malgré notre volonté et nous sont imposées par la malice de nos ennemis spirituels. Si nous combattons ces pensées comme nous le devons, notre âme en bénéficie au lieu d'en souffrir, parce que la résistance à la tentation, en montrant notre fidélité à Dieu, augmente sa grâce, nous assure une plus riche récompense au ciel et enracine plus profondément dans nos cœurs les vertus que ces tentations voulaient détruire. Le péché commis par des mauvaises pensées vient de ce que nous nous les approprions en les faisant nôtres. Lorsqu'elles nous viennent malgré nous et que nous persistons à les mépriser et à les repousser, elles ne sont pas *nos* pensées, mais des traits de l'ennemi qui veut notre perte, et nous n'en sommes pas responsables ; mais si notre volonté les accepte, elles deviennent *nos* pensées et nous rendent coupables de péché. »

Les péchés de mauvaises pensées se commettent de différentes manières : 1°. En aimant l'objet de la pensée impure et en se complaisant volontairement à y songer ; c'est dans ce sens que la Sainte-Ecriture dit : « Les pensées mauvaises sont en abomination au Seigneur. » (Prov., XV, 26), et « Les pensées corrompues séparent de Dieu. » (Sag., I, 3). — 2°. Si, même sans le commettre, la volonté accepte le mal qui hante l'esprit, ou si l'on consent à ce qu'il soit commis par d'autres, on devient immédiatement coupable devant Dieu, selon les paroles suivantes des Saints-Livres : « Gardez-vous de consentir jamais à aucun péché et de violer les préceptes du Seigneur votre Dieu. » (Tob., IV, 16), car « Ceux qui font ces choses sont dignes de mort : et non seulement ceux qui les font, mais aussi ceux qui approuvent ceux qui les font. » (Rom., I, 32). — 3°. Le péché devient encore plus grave si l'on va jusqu'à désirer le mal auquel on pense et c'est ce désir qui est expressément et directement défendu par le neuvième commandement. — 4°. On pèche encore par pensée en se

réjouissant du mal soit commis soit à commettre par soi-même ou par d'autres.

Comme nous sommes toujours exposés aux pensées mauvaises et aux tentations, nous devons sans cesse nous tenir sur nos gardes et être toujours prêts à les combattre dès qu'elles se présentent ; et cela tous les jours de notre vie, puisque le saint homme Job nous dit que « la vie de l'homme sur la terre est une guerre continuelle. » Job, VII, 1.

Les principaux moyens à prendre pour repousser ou vaincre les mauvaises pensées sont les suivants : 1°. Veiller sans cesse sur les mouvements du cœur : « Appliquez-vous avec tout le soin possible à la garde de votre cœur, parce qu'il est la source de la vie. » Prov., IV, 23 ; 2°. Chasser promptement et énergiquement la première suggestion mauvaise, comme l'on ferait d'une étincelle tombée sur ses habits ; 3°. Demander la protection de l'Immaculée Vierge Marie ; 4°. Se rappeler la présence de Dieu qui voit et connaît tout, et se confier entièrement à lui, se souvenant que « Dieu est fidèle et il ne permettra pas que vous soyez tentés au-dessus de vos forces : mais il vous fera tirer avantage de la tentation même, afin que vous puissiez persévérer. » (I Cor., X, 13) ; 5°. Mépriser la funeste suggestion et porter son esprit à d'autres pensées, surtout aux souffrances et à la mort de Jésus-Christ sur la croix pour nous racheter et nous sanctifier. « Ayez confiance en Dieu de tout votre cœur, et ne vous appuyez point sur votre prudence. Pensez à lui dans toutes vos voies, et il conduira lui-même vos pas. » (Prov., III, 5 & 6).

DISCOURS ET CHANSONS IMMODESTES. — S'il y a obligation de veiller sur ses pensées et ses désirs, à plus forte raison doit-on prendre garde à ses paroles et à ses conversations afin qu'elles ne soient pas pour le prochain une source de maux ni une cause de scandale. De tous les artifices dont le démon, notre ennemi acharné, se sert pour perdre les âmes, il n'y en a pas qui lui soient plus profitables que les mauvaises paroles,

les discours licencieux et les chansons obscènes. Et cependant ils sont nombreux les chrétiens qui, tous les jours, à toute heure, ont à la bouche de ces propos malsonnants, sans égard aux châtimens redoutables de Dieu sans crainte des conséquences terribles qu'amène une telle conduite, conséquences tout particulièrement funestes aux jeunes gens qui sont mal édifiés comme d'ailleurs tous ceux qui entendent ce vilain langage. D'autres infusent le poison impur d'une manière plus discrète, mais non moins efficace, en se servant de paroles à double sens. Saint Jean Chrysostôme compare les langues de ces personnes aux « langues du démon » et dit que plusieurs jeunes gens et jeunes filles, d'anges de pureté et d'innocence qu'ils étaient, sont devenus des agents de Satan, pour avoir prêté attention à des discours mauvais, à des chansons impures et à des paroles à double sens. Quelle leçon terrible pour les personnes d'âge mûr, et particulièrement pour les parents, qui se soucient si peu de tenir des conversations licencieuses même en présence de petits enfans innocents ! Ils devraient se rappeler la parole de notre bon Sauveur qui prêchant sur la malice du scandale, désigna à la foule un petit enfant, et dit qu'il vaudrait mieux être précipité à la mer que de scandaliser un seul de ces petits. Saint Stanislas et saint Louis s'éloignaient de leurs compagnons dès que ceux-ci se permettaient la moindre parole deshonnête en leur présence.

#### DES LIVRES, SPECTACLES ET COMÉDIES DESHONNÊTES.

Les sens sont les avenues et les portes de l'âme, et c'est principalement par la vue que les tentations pénètrent dans l'âme. De tous les sens, la vue est le plus vif et celui qui produit sur le cœur la plus forte impression. Si, volontairement, l'œil s'arrête sur des choses indécentes, sur des gravures immodestes ou sur d'autres objets mauvais ; si, dans les spectacles ou les représentations théâtrales, l'œil est frappé par des scènes mauvaises, ces regards tendent toujours à attiser dans l'âme le feu de l'amour impur, et sont la ruine spirituelle d'un grand nombre d'âmes. Les comédies et autres représentations théâ-

trales, les vues animées et les spectacles quelconques auxquels on permet souvent aux enfants d'assister, sans que les parents aient le moindre soin de s'enquérir quels sont ces représentations ou les tableaux que l'on y fait voir, sont très dangereux, et une source très grande de démoratisation pour les enfants et pour les autres spectateurs. A ces spectacles on représente souvent le vice sous les plus belles couleurs, tandis que les vertus chrétiennes, surtout la modestie, sont tournées en dérision et en mépris. Dans les comédies et les scènes théâtrales qui ne sont pas préalablement soumises à une juste censure, il y a presque toujours quelque chose qui blesse la modestie, soit dans les paroles, soit dans les costumes, soit dans les gestes des acteurs. « C'est au théâtre, dit Saint Jérôme, que nous voyons l'accomplissement de la prophétie de Jérémie : *La mort entre par les fenêtres de l'âme*, c'est-à-dire, en voyant et en entendant ce qui ne devrait être ni vu ni entendu ». Notre sainte Mère l'Eglise exhorte ses enfants à s'abstenir de ces divertissements, et tout particulièrement durant les saints temps de l'année qui sont consacrés aux œuvres de pénitence et à de pieuses méditations sur les souffrances et la mort de notre Divin Sauveur.

DES FAMILIARITÉS DANGEREUSES, DES SOIRÉES ET DES DANSES MIXTES. — C'est dans la licence et les familiarités qui existent dans ces soirées et ces danses mixtes que la vertu de tant de jeunes personnes se perd entièrement. Saint Jérôme appelle ces plaisirs et ces amusements « les avant-coureurs de la ruine de la chasteté. » Tous les Pères de l'Eglise répètent les mêmes avertissements et dénoncent dans les termes les plus clairs, ces familiarités indiscretes et ces réunions nocturnes comme très dangereuses pour la jeunesse chrétienne. L'Esprit-Saint nous dit : « Que celui qui pèche aime l'obscurité et déteste la lumière, » parce que la nuit est plus propice à ses desseins coupables. Il peut y avoir des exceptions, mais il est rare que les jeunes gens sortent de ces réunions aussi purs qu'ils y sont entrés : car, nous en avons l'assurance, celui

qui aime le danger y périra. Ceux qui ont la crainte de Dieu fortement imprimée au cœur, éviteront avec soin ces réunions nocturnes et ces inlécentes danses mixtes comme autant d'occasions dangereuses de péché. Sous le regard de leurs parents, d'une mère ou d'un tuteur, les jeunes personnes peuvent être à l'abri du danger mais si elles comptent sur leur seule prudence pour fréquenter de tels amusements, l'ennemi de leur salut les surprendra très certainement.

DES ROMANS ET DES LIVRES MAUVAIS. — Nombreux sont les écrits ouvertement obscènes, mais plus nombreux encore sont ceux qui cachent le poison qu'ils distillent sous un extérieur agréable et modeste, et sont en conséquence plus dangereux. Si ces livres étaient manifestement pervers, ceux qui ont encore un reste de pudeur et de conscience rougiraient de les lire ; mais c'est avec discrétion, par de belles phrases et d'attrayantes descriptions, que les romans obscènes attirent le lecteur imprudent et irréfléchi ; ils flattent les sens et allument peu à peu le feu de l'amour impur dans le cœur. Sainte Thérèse, qui était sainte même dans son enfance, nous apprend ce que produisirent en elle des lectures imprudentes. « Il y avait chez nous, dit-elle, des romans, je commençai à les lire et je m'abandonnai complètement à cette lecture ; et je tombai dans de nombreux péchés. » Si vous avez de tels livres dans vos maisons, vous devez vous en défaire. Ne dites pas qu'ils sont bien faits, splendidement écrits, qu'ils vous apprennent à parler correctement et que vous y puisez des connaissances utiles. Saint Augustin confond ainsi ce raisonnement : « Tout cela n'est qu'un faux prétexte qui vous trompe, car ces livres vous apprennent non pas à bien parler, mais à devenir vicieux et à commettre le péché avec moins de gêne. » (Moeller, *passim*).

#### DEUXIEME PARTIE. -- PARTIE POSITIVE

La partie positive de ces deux commandements nous oblige à garder la continence et à être chastes de corps et

l'esprit. La chasteté est la vertu la plus agréable à Dieu, et elle doit être pratiquée par tous et dans tous les états de la vie dans le mariage comme dans le célibat. Notre sanctification est coordonnée d'une certaine manière à la pratique de cette vertu. « Car la volonté de Dieu est que vous soyez saints, que vous vous absteniez de la fornication ; que chacun de vous sache posséder le vase de son corps saintement et non point en suivant les mouvements de la concupiscence, comme les païens qui ne connaissent point Dieu. . . Car Dieu ne nous a pas appelés pour être impurs, mais pour être saints. Celui donc qui méprise ces règles, méprise non pas un homme mais un Dieu. » (Thess., IV, 3, 4, 5, 7, 8). La chasteté est une perfection surhumaine et divine dans son origine, car Dieu l'a apportée du ciel sur la terre. Jésus-Christ, au cours de sa vie mortelle, montra une prédilection spéciale pour cette vertu et pour ceux qui la pratiquaient. Il se choisit pour mère une vierge très pure, et pour père nourricier un homme d'une pureté angélique. Saint Jean-Baptiste, son Précurseur, fut sanctifié dans le sein de sa mère. Le chaste saint Jean fut son disciple bien-aimé ; plus privilégié que tous les autres, cet apôtre eut le bonheur, à la dernière cène, d'appuyer sa tête sur la poitrine du Sauveur. Les petits enfants sont toujours les favoris de Jésus à cause de leur innocence et de leur pureté. Au moment de mourir, c'est qu'à son apôtre vierge, saint Jean, qu'il confia sa Mère. Le peuple Juif, ce peuple choisi de Dieu, honora toujours la virginité et, plusieurs fois, punit de mort ceux qui violaient cette vertu. Les Romains, qui n'étaient que des païens, avaient leurs vestales, des vierges, qui servaient dans les temples et à qui l'on rendait des honneurs publics quand elles paraissaient dans les rues. . . Or, si les Juifs et les païens rendaient des honneurs plus qu'ordinaires à leurs filles qui préféraient la virginité à l'état conjugal, les parents chrétiens ne doivent-ils pas se sentir honorés et légitimement fiers de voir leurs enfants, poussés par des motifs surnaturels, embrasser l'état



de virginité ! Même au ciel, ceux-là seront particulièrement honorés qui auront mené sur la terre une vie chaste : le Nom du Père et de l'Agneau sont écrits sur leurs fronts ; ils suivent l'Agneau partout où il va : ils chantent un nouveau cantique de louange que nul autre ne peut chanter. « Et je vis, dit saint Jean, et voici que l'Agneau était debout sur la montagne de Sion, et avec lui cent quarante-quatre mille personnes, qui avaient son nom et le nom de son Père écrit sur le front. . . Et ils chantaient comme un cantique nouveau devant le trône et nul ne pouvait chanter ce cantique que ces cent quarante-quatre mille qui ont été rachetés de la terre. Ce sont ceux qui ne se sont point souillés avec les femmes, parce qu'ils sont vierges. Ceux-là suivent l'Agneau partout où il va : ils ont été achetés d'entre les hommes pour être à Dieu et à l'Agneau comme des prémices. » (Apoc., XIV, I, &c.)

La pureté est une vertu angélique, et ceux qui mènent une vie pure sont des anges sous une forme humaine. A vrai dire, ils sont supérieurs aux anges mêmes, parce qu'ils ont à combattre les penchants corrompus et avilissants de la nature humaine, ce qui n'est pas le triste partage des anges. C'est à bon droit que les chastes peuvent s'écrier avec l'auteur sacré : « O combien est belle la race chaste, lorsqu'elle est jointe avec l'éclat. Sa mémoire est immortelle, et elle est en honneur devant Dieu et devant les hommes. » (Sag., IV, 1)

Ceux qui mènent une vie chaste ont en plus grande abondance la grâce sanctifiante du Saint-Esprit et, par suite, ils sont plus en état de supporter les croix et les contradictions de cette vie, et de résister aux séductions perfides d'un monde pervers.

Au livre des Cantiques, on compare au lis ceux qui pratiquent la chasteté. (Cant. II). De même que cette belle fleur perd son éclat et se flétrit vite si on la secoue rudement, ainsi le chrétien chaste souffre, dans sa vertu, des rapports trop faciles avec ceux qui l'entourent, et contamine aisément la

pureté du lis virginal dont il gâte en même temps la beauté. De même que le lis remplit toute la maison de son parfum et embaume l'air qui l'entoure, ainsi celui qui est chaste charme et édifie tout son entourage par ses douces manières et ses bons exemples.

#### DES MOYENS DE CONSERVER LA CHASTÉTÉ.

Pour se conserver chaste, il faut : 1°. S'appliquer de son mieux à éviter les occasions de pécher contre cette vertu. Les familiarités inconvenantes, les mauvais livres et les autres dangers que Nous avons signalés au cours de cette Lettre, ce sont presque toujours des occasions de péché. « Et celui qui aime le péril, dit le Seigneur, y périra. » (Eccl., III, 27.) D'après Saint Bernardin de Sienne, ne pas succomber quand on est dans l'occasion prochaine du péché est un miracle plus grand que de ressusciter un mort. Et saint Philippe de Néri dit que « dans la guerre contre la chair, les poltrons seuls, c'est-à-dire ceux qui fuient devant l'occasion, sont victorieux. » Dieu toujours fidèle à secourir ceux qui l'invoquent ne nous protégera pas quand nous nous serons volontairement et sans nécessité exposés aux occasions du péché. — 2°. Implorons l'assistance divine dès que nous sommes assaillis par les pensées mauvaises, et ne comptons pas sur nos seules forces : « Et comme je savais, dit le Sage, que je ne pouvais avoir la continence si Dieu ne me la donnait... je m'adressai au Seigneur, je lui fais ma prière de tout mon cœur. » (Sag., VIII, 21). Quand le démon présente à notre esprit une idée mauvaise, nous devons tourner immédiatement nos pensées vers Dieu, ou porter notre attention à des choses honnêtes. » Un moyen presque infailible de nous débarrasser des tentations impures est d'invoquer les Saints Noms de Jésus et de Marie, et de continuer cette invocation jusqu'à ce que la tentation soit dissipée. — 3°. Fréquentons les Sacraments de Pénitence et d'Eucharistie. C'est dans la sainte

communion que nous trouverons abondamment la force de surmonter toutes les tentations, surtout celles contre la sainte vertu de pureté. Ce sacrement est appelé « le vin qui fait germer les vierges, » (Zach., IX, 17). Ce vin est changé au sang de Jésus-Christ par la consécration, et, tandis que le vin terrestre a souvent pour effet d'exciter et de fortifier les passions mauvaises, ce vin celeste les subjugué et nous les fait vaincre absolument. 4. Soyons dévots à la Mère de Dieu qui est appelée « la Vierge des vierges. » La dévotion à la Vierge Immaculée a été, pour d'innombrables jeunes gens des deux sexes, le sûr moyen de se conserver dans un état d'angélique innocence. Plusieurs écrivains religieux recommandent la récitation de trois *Ave Maria*, en l'honneur de l'Immaculée Conception, comme moyen de conserver la chasteté, et nombreux sont les exemples qu'ils rapportent de l'efficacité de cette dévote pratique — 5°. Rappelons-nous les grandes vérités de la religion, surtout la brièveté de la vie présente et l'éternité de la vie future. Un moment de satisfaction sensuelle peut jeter bientôt dans d'affreuses tortures éternelles. « Souvenez-vous dans toutes vos actions de votre dernière fin, et vous ne pécherez jamais. » (Eccl., VII, 40).

Cette lettre pastorale sera lue dans toutes les églises du Diocèse au premier office dominical qui suivra sa réception

+ THOS-F. BARRY.

Evêque de Chatham.

Chatham, N. B., 2 février 1910.

Fête de la Purification de la Sainte Vierge.

LOUIS O'LEARY.

Secrétaire.



# Census List of The Diocese of Chatham, March 1910.

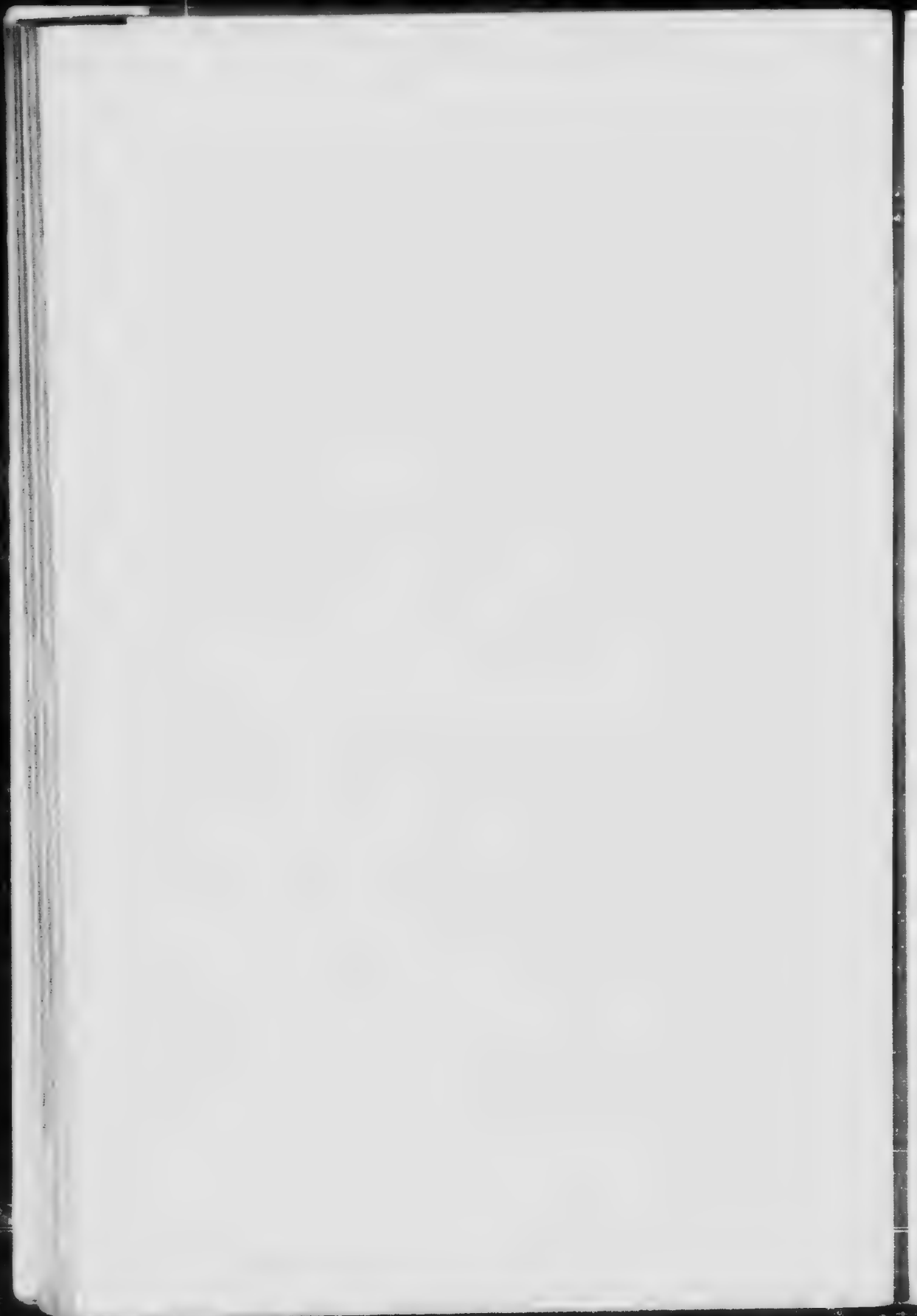
| Ward         | Worshippers | Families | Communicants | Non-communicants | Catholic population |
|--------------|-------------|----------|--------------|------------------|---------------------|
| St. Ignace   | 110         | 128      | 511          | 224              | 735                 |
| St. Joseph   | 237         | 245      | 964          | 694              | 1658                |
| St. Michael  | 73          | 73       | 302          | 73               | 375                 |
| St. Patrick  | 139         | 139      | 540          | 410              | 950                 |
| St. Peter    | 81          | 82       | 312          | 78               | 390                 |
| St. Thomas   | 360         | 360      | 1300         | 710              | 2100                |
| St. Vincent  | 214         | 204      | 977          | 543              | 1510                |
| St. Xavier   | 111         | 114      | 653          | 306              | 949                 |
| St. Yvonne   | 115         | 110      | 394          | 222              | 616                 |
| St. Zeno     | 42          | 42       | 101          | 54               | 215                 |
| St. Anthony  | 38          | 61       | 202          | 60               | 301                 |
| St. Charles  | 305         | 434      | 1380         | 744              | 2124                |
| St. Francis  | 550         | 594      | 1890         | 1541             | 3437                |
| St. George   | 531         | 531      | 1850         | 950              | 2800                |
| St. John     | 128         | 141      | 430          | 210              | 670                 |
| St. Lawrence | 168         | 190      | 626          | 347              | 973                 |
| St. Mary     | 223         | 238      | 780          | 505              | 1285                |
| St. Michael  | 204         | 338      | 1033         | 695              | 1728                |
| St. Nicholas | 122         | 141      | 501          | 32               | 821                 |
| St. Peter    | 238         | 272      | 902          | 472              | 1414                |
| St. Paul     | 275         | 295      | 1029         | 475              | 1504                |
| St. Rose     | 180         | 213      | 714          | 202              | 1011                |
| St. Vincent  | 272         | 318      | 1122         | 778              | 1900                |
| St. Xavier   | 92          | 111      | 316          | 151              | 467                 |
| St. Yvonne   | 178         | 210      | 770          | 505              | 1275                |
| St. Zeno     | 157         | 200      | 530          | 478              | 998                 |
| St. Anthony  | 110         | 120      | 395          | 200              | 661                 |
| St. Charles  | 181         | 166      | 722          | 416              | 1138                |
| St. Francis  | 161         | 72       | 600          | 274              | 874                 |
| St. Ignace   | 315         | 315      | 1085         | 466              | 1551                |
| St. Joseph   | 228         | 270      | 1125         | 545              | 1670                |
| St. Michael  | 361         | 363      | 1442         | 908              | 2350                |
| St. Patrick  | 305         | 324      | 1326         | 688              | 2014                |
| St. Peter    | 88          | 106      | 441          | 238              | 649                 |
| St. Thomas   | 104         | 121      | 339          | 116              | 455                 |
| St. Vincent  | 147         | 145      | 519          | 116              | 625                 |
| St. Xavier   | 118         | 122      | 504          | 227              | 731                 |

|                       |       |       |      |       |       |
|-----------------------|-------|-------|------|-------|-------|
| Pokémonde (Upper)     | 304   | 305   | 1442 | 000   | 258   |
| Pokémonde (Lower)     | 88    | 106   | 1326 | 088   | 204   |
| Ref. B. K.            | 104   | 121   | 441  | 2 8   | 649   |
| Reynolds Bridge       | 137   | 145   | 339  | 116   | 455   |
| Rehmanito             | 118   | 132   | 519  | 110   | 625   |
| Rehmanville           | 450   | 488   | 504  | 227   | 731   |
| Suttonville           | 60    | 73    | 1740 | 090   | 2700  |
| Stappegan             | 176   | 213   | 210  | 223   | 439   |
| St. Andrew            | 162   | 180   | 802  | 81    | 1186  |
| St. Ann               | 267   | 273   | 563  | 450   | 1019  |
| St. Basil             | 374   | 404   | 974  | 629   | 1603  |
| St. Charles           | 105   | 200   | 1262 | 739   | 2001  |
| St. Francis Xavier    | 227   | 235   | 875  | 713   | 1588  |
| St. Francis of Assisi | 115   | 134   | 809  | 452   | 1261  |
| St. Hilarie           | 218   | 235   | 499  | 319   | 818   |
| St. Ignatius          | 75    | 79    | 886  | 570   | 1456  |
| St. Isidore           | 174   | 215   | 332  | 133   | 465   |
| St. Jacques           | 210   | 226   | 799  | 474   | 1273  |
| St. Leonard           | 204   | 307   | 753  | 548   | 1301  |
| St. Louis             | 172   | 194   | 1684 | 701   | 1785  |
| St. Theresa           | 225   | 301   | 765  | 340   | 1105  |
| Tolupee               | 57    | 65    | 898  | 512   | 1439  |
| Trondie               | 731   | 767   | 109  | 60    | 268   |
| Upper Bay du Vin      | 165   | 198   | 2853 | 1858  | 4661  |
|                       |       |       | 587  | 296   | 883   |
| Total                 | 11002 | 12006 | 4575 | 20549 | 72254 |
| Indians               | 242   | 20    | 625  | 270   | 901   |

Chatham N. B. June 30th 1900 Total Catholic Population: — 73155

By Order of the Bishop of Chatham,

LOUIS J'LEARY, Secretary.



(Circular)

CHATHAM, N. B., January 5th, 1910.

REVEREND FATHER. —

We are desirous of having an exact census of each parish and mission in the diocese and therefore request you, if you have not already recently done so, to ascertain the exact number of families at present residing in your parish and missions so as to fill in the enclosed lists one for each parish and one for each mission with church either erected or in course of construction. Kindly have the lists completely filled and exact in every particular and return to the chancellor Rev. Dr. L. J. O'Leary by the first of March next

In order to obviate any misunderstanding we would request that you state the exact number of families according to two distinct standards:

- 1st, the number of households or "feux"
- 2ndly, the number of families including as such
  - (a) 1st, All married couples.
  - (b) 2nd, Widow or widower with families
  - (c) Brothers and sisters when living together in numbers of two or more and keeping house.

Wishing you and all your people a very happy and prosperous New Year.

I remain

Yours truly in Xto.

† THOS. F. BARRY.

Bishop of Chatham.



(Copy)

CHATHAM, N. B. July 14, 1910.

Rev. E. P. Wallace, Campbellton, N. B.

REVEREND FATHER, —

It was with extreme regret that I learned of the devastating fire in Campbellton, and I extend to you, your afflicted congregation and to all the citizens of Campbellton, my deepest and most heartfelt sympathy. Since your congregation has suffered and still suffers so much you cannot now appeal to them for aid, hence I freely grant you permission to request the help of charitable persons outside your Mission in order to re-establish your religious and charitable works, and not only give my approval but wish you also the greatest success in your praise-worthy endeavors.

Yours Very Truly in Xto,

(Signed) † THOS. F. BARRY,

Bp. of Chatham.

CAMPBELLTON, N. B.,

10.

le-  
af-  
on,  
re-  
ow  
ion  
on  
ks,  
est

am.

# Returns from the Missions of the Diocese of Chatham for 1909.

| MISSIONS.          | Ep. Coll. | Compon. | Af. Misc. | H. Land | Council. | H. Oils. |
|--------------------|-----------|---------|-----------|---------|----------|----------|
| Acaheville         |           |         |           |         |          |          |
| Balmoral           | 34 55     | 39 00   | 3 30      | 7 00    | 15 00    |          |
| Barnaby River      | 70 83     |         | 4 00      | 2 40    | 16 00    |          |
| Baker Lake         | 22 00     | 36 00   |           | 6 00    | 5 00     | 1        |
| Bartholomew        | 47 70     | 4 00    | 1 50      | 2 50    | 11 91    |          |
| Bathurst (Town)    | 27 15     | 91 00   | 6 00      | 13 00   | 19 50    | 1        |
| Bathurst (Village) | 83 40     | 27 00   | 5 00      | 5 00    | 13 00    | 1        |
| Bellefleur         | 22 50     | 16 40   | 1 50      | 7 50    | 15 00    |          |
| Black Point        | 18 00     |         |           |         | 5 00     |          |
| Blackville         | 49 60     | 10 00   | 3 00      | 2 00    | 13 15    |          |
| Bonestown          | 7 50      |         | 1 20      | 80      | 3 00     | 1        |
| Burnt Church       |           |         |           |         |          |          |
| Campbellton        | 85 38     | 86 00   | 10 00     | 21 00   | 16 40    |          |
| Carriquet          | 108 00    | 63 50   | 25 00     | 22 25   | 20 00    | 1 00     |
| Chatham            | 1 05 50   | 52 00   | 13 20     | 30 45   | 166 00   | 4 50     |
| Charlo             | 21 75     | 10 00   | 2 15      | 1 35    | 5 81     | 1 00     |
| Delbosie           | 44 00     | 12 00   | 2 70      | 9 03    | 9 72     |          |
| Drummond           | 38 34     | 26 00   | 1 00      | 8 50    | 14 20    | 2 00     |
| Dundee             | 21 00     |         |           |         |          |          |
| Edmonton           | 73 83     | 23 50   | 9 50      | 8 59    | 13 92    |          |
| Esquimaux          | 6 00      | 43 50   |           |         | 2 00     |          |
| Grand Anse         | 27 00     | 20 00   | 1 25      | 1 75    | 18 00    |          |
| Grand Falls        | 51 10     | 52 00   | 2 00      | 10 25   | 21 00    |          |
| Jacquet River      | 35 31     | 23 00   |           |         | 17 00    |          |
| L'Amee             | 54 00     | 43 00   | 10 00     | 7 95    | 25 00    | 1 00     |
| Longueville        | 40 50     | 12 00   | 1 50      | 1 50    | 50 40    | 1 00     |
| Lower Carriquet    | 21 00     | 7 00    | 2 50      |         | 7 75     |          |
| Miscou             | 18 00     |         | 6 00      |         |          |          |
| Neguec             | 20 00     | 45 00   | 6 00      | 3 00    | 10 00    | 1 00     |
| Nelson             | 140 00    | 12 00   | 8 00      | 2 00    | 12 00    |          |
| Newcastle          | 189 92    | 22 00   | 18 26     | 20 80   | 12 00    |          |
| Paquetville        | 30 00     | 17 50   | 3 20      | 6 00    | 10 00    | 4 30     |
| Petit Rocher       | 115 00    | 63 00   | 7 00      | 10 00   | 30 00    | 1 00     |
| Pokemouche (Upper) | 43 50     | 60 50   | 9 50      | 10 00   | 22 00    |          |
| Pokemouche (Lower) | 20 00     | 11 00   | 3 00      | 5 00    | 10 00    |          |

|                               |            |            |           |           |           |          |
|-------------------------------|------------|------------|-----------|-----------|-----------|----------|
| Newcastle                     | 180 92     | 22 00      | 18 26     | 20 89     | 12 00     | 4 36     |
| Paquetville                   | 30 00      | 17 50      | 3 20      | 6 00      | 10 00     | 1 00     |
| Petit Rocher                  | 115 00     | 63 00      | 7 00      | 10 00     | 30 00     |          |
| Pukemouche (Upper)            | 43 50      | 60 50      | 9 50      | 10 00     | 22 00     |          |
| Pukemouche (Lower)            | 20 00      | 11 00      | 3 00      | 5 00      | 10 00     |          |
| Red Bank                      | 20 00      |            | 1 25      | 2 00      | 32 00     | 1 50     |
| Renous Bridge                 | 68 00      | 10 00      | 2 00      | 2 00      | 21 00     | 1 00     |
| Richibucto                    | 42 00      | 4 00       | 7 00      | 6 00      | 20 00     |          |
| Rogersville                   | 42 00      | 28 00      | 5 00      | 5 00      | 15 00     |          |
| Shippegan                     |            |            | 3 30      | 2 10      | 5 85      |          |
| St. Andrew                    | 25 00      | 30 00      | 3 25      | 5 50      | 11 25     |          |
| St. Ann                       |            | 30 00      | 7 00      | 4 00      | 16 00     |          |
| St. Basil                     | 52 00      | 98 00      | 8 75      | 10 25     | 16 00     | 1 00     |
| St. Charles                   | 20 00      | 66 00      | 2 50      | 2 50      | 10 00     |          |
| St. Francis Xavier            | 30 34      | 30 00      | 2 08      | 4 10      | 12 00     |          |
| St. Francis of Assisi, (Chin) | 6 77       | 50 50      | 4 50      | 5 00      | 8 25      |          |
| St. Hilaire                   | 48 00      | 79 50      | 2 00      | 3 00      | 9 24      | 2 00     |
| St. Ignatius                  | 0 00       | 2 00       | 3 00      | 2 00      | 7 00      | 1 50     |
| St. Isidore                   | 20 00      | 19 50      | 3 00      | 5 00      | 10 00     | 1 00     |
| St. Jacques                   | 21 08      | 42 00      | 7 23      | 5 76      | 9 24      |          |
| St. Leonard                   | 21 00      | 52 00      | 4 00      | 4 00      | 12 00     |          |
| St. Louis                     | 25 00      | 1 00       | 8 00      | 12 00     | 11 00     |          |
| St. Theresa                   | 28 00      | 67 00      | 4 00      | 8 00      | 8 00      |          |
| Tahique                       | 12 50      | 5 00       | 4 00      |           | 28 65     | 2 00     |
| Tracadie                      | 66 15      | 60 50      | 11 61     | 25 00     | 1 00      |          |
| Upper Bay du Vin              | 20 00      | 20 00      | 2 50      | 2 50      |           |          |
| (St. Margaret's)              |            |            |           |           |           |          |
| Totals                        | \$ 3472 62 | \$ 1678 00 | \$ 264 64 | \$ 330 42 | \$ 773 94 | \$ 34 26 |

Amounts still due on Cathedral Subscriptions of Sept. 1913

|                                    |            |
|------------------------------------|------------|
| Burnaby River                      | \$ 420 63  |
| Grand Anse                         | NC 00      |
| Red Bank                           | 250 00     |
| Shippegan                          | 200 00     |
| St. Andrew                         | 200 00     |
| St. Isidore                        | 226 50     |
| Upper Bay du Vin, (St. Margaret's) | 200 00     |
| Total                              | \$ 1577 13 |

You are respectfully requested to kindly  
notify us of any errors or omissions in the  
present lists

Chatham, N. B. Feb. 12th, 1910  
LOUIS O'LEARY



# MICROCOPY RESOLUTION TEST CHART

(ANSI and ISO TEST CHART No. 2)



APPLIED IMAGE Inc

1653 East Main Street  
Rochester, New York 14609-1454  
716 484-1300 Phone  
(716) 288-5989 Fax



CAMPBELLTON, N. B.

As you are aware there remains nothing of this town, a few days ago so large and prosperous, but a half dozen houses.

All our buildings, Church, Presbytery, Hospital, Convent and School are no more. Our people shall require all their resources to provide shelter and provisions for themselves, and we shall be obliged to rely on outside help to meet the most pressing wants for church accommodation. I know that many of the clergy would be disposed to lend a charitable hand in our need, and I have thought it well to write you to say that should any under your care desire to aid, I think that a money contribution addressed to the Mother Superior of the Hotel Dieu or myself, would be the most satisfactory manner of so doing.

Though all the inmates of our institutions, as well as the people generally, escaped without injury or loss of life, neither the Sisters nor ourselves saved more than the clothes we wore.

Trusting that you and yours may be preserved from such a visitation, I beg to remain

E. P. WALLACE, *Pastor*.

Church of Our Lady of Snows.



CHATHAM, N. B., July 22nd, 1910.

REVEREND FATHER,

As you have undoubtedly learned God in His all-wise Providence has seen fit to remove the Church and Presbytery of Campbellton by the late disastrous fire. The Pastor, Rev. E. P. Wallace, finds himself in the very unenviable and unique position of being not only without Church or Residence but also without a congregation able to assist him in the rebuilding of the Church property, having themselves lost all they had. Hence it seems to me only just that the diocese at large should come to the immediate aid of the stricken congregation of Campbellton, and by generous contribution enable the Pastor to reconstruct the edifice of God and afford him the means of continuing God's holy work in the midst of his afflicted people.

I would therefor request each Pastor of the Diocese to announce upon the first Sunday after the reception of this letter that on the following Sunday a collection will be taken up for the purpose of rebuilding the Church.

I beg also to recommend to your good prayers and to those of your faithful flock the suffering people of Campbellton in order that God may lessen their hardships and grant them the means of reestablishing themselves in their former state of prosperity.

Yours very truly in Xto.

+ THOS.-F. BARRY,

Bp. of Chatham

# Contributions from the Missions of the Diocese of Chatham

To Aid in Rebuilding Campbellton Church,  
Destroyed by Fire, July 11th, 1910.

| MISSION                 | Amts. Sent to<br>Chancellor | Amts. Sent to<br>Rev. E. P. Wallace |
|-------------------------|-----------------------------|-------------------------------------|
| Acadieville.....        | 11 20                       |                                     |
| Baker Lake.....         | 15 00                       |                                     |
| Balmoral.....           | 40 00                       |                                     |
| Barnaby River.....      |                             |                                     |
| Bartibogue.....         | 43 98                       |                                     |
| Bathurst (Town).....    | 100 00                      |                                     |
| Bathurst (Village)..... | 100 00                      |                                     |
| Belledune.....          |                             | 57 65                               |
| Black Pont.....         |                             | 40 00                               |
| Blackville.....         |                             | 65 00                               |
| Boiestown.....          |                             |                                     |
| Burnt Church.....       |                             |                                     |
| Caraquet.....           | 68 00                       |                                     |
| Charlo.....             | 33 30                       |                                     |
| Chatham.....            | 333 60                      |                                     |
| Coalbrook.....          | 19 20                       |                                     |
| Dalhousie.....          | 60 00                       |                                     |
| Drummond.....           | 65 00                       | 25                                  |
| Dundee.....             |                             |                                     |
| Edmundston.....         |                             | 90 20                               |
| Escuminac.....          | 5 00                        |                                     |
| Grand Anse.....         |                             | 24 00                               |
| Grand Falls.....        |                             | 101 50                              |
| Jacquet River.....      |                             | 64 44                               |
| L'Amec.....             | 30 00                       |                                     |
| Loggieville.....        | 48 00                       |                                     |

|                                  |            |           |
|----------------------------------|------------|-----------|
| Lower Caraquet.....              | 20 50      |           |
| Miscou.....                      |            |           |
| Neguac.....                      | 8 00       |           |
| Nelson.....                      | 176 00     |           |
| Newcastle.....                   | 269 60     |           |
| Pacquetville.....                | 23 00      |           |
| Petit Rocher.....                |            | 50 00     |
| Pokemouche (Upper).....          | 32 55      |           |
| Pokemouche (Lower).....          | 21 00      |           |
| Red Bank.....                    | 100 00     |           |
| Renous Bridge.....               | 200 00     |           |
| Richibucto.....                  | 65 00      |           |
| Rogersville.....                 | 50 00      |           |
| Shippegan.....                   | 18 50      |           |
| St. Andrew.....                  | 30 00      |           |
| St. Anne.....                    | 10 00      |           |
| St. Basil.....                   |            | 94 00     |
| St. Charles.....                 |            |           |
| St. Francis Xavier.....          |            | 20 08     |
| St. Francis of Assisi (Clair)... |            | 6 12      |
| St. Hilaire.....                 | 14 00      |           |
| St. Ignatius.....                | 6 00       |           |
| St. Isidore.....                 | 12 00      |           |
| St. Jacques.....                 |            | 14 00     |
| St. Leonard.....                 |            | 40 00     |
| St. Louis.....                   | 20 00      |           |
| St. Theresa.....                 |            | 25 00     |
| Tobique.....                     |            | 25 00     |
| Tracadie.....                    | 95 08      |           |
| Upper Bay du Vin (S. Marg.)...   |            |           |
|                                  | \$ 2143 51 | \$ 717 24 |

Total, \$ 2860 75

If there are any errors or omissions in this present list you are respectfully requested to notify us of same.

LOUIS O'LEARY, CHANCELLOR.

Chatham, N. B., Nov. 17th, 1910.

CHATHAM, N. B., Nov. 21st, 1910.

REV. DEAR FATHER,

Herewith I enclose you a copy in French, and subjoined a copy in English of the recent Decree of the Holy See regarding the age at which children should be admitted to Holy Communion. This Decree is extremely important as it changes the practice which has prevailed for centuries in the Western Church. Like his Divine Master Pius X in this decree has given the world a singular proof of his great love for the little ones of the fold. « Suffer the little children to come unto Me and forbid them not. » (St. Mark, X, 14.)

The Pope's words are simple and plain and require no comment or explanation from us. I would however lay particular stress on the following points and ask you to instruct the people on them in a special manner as they are quite new and unfamiliar to them, viz :

1st--That it was customary in the early ages of the Church and down to the thirteenth century to give Holy Communion to infants after their baptism, and in some of the Eastern Churches the same custom continued long after the thirteenth century and in some places even to the present day.

2nd--Explain to the faithful the import of the Enactments of the Councils of Lateran (1215) and Trent (1545) regarding the age at which communion should be adminis-

tered to all the faithful who are prepared to receive it worthily.

3rd—The time now fixed for the first confession and communion of children is the time when they *begin to have the use of reason*, which is about the age of seven years, more or less. Some children may have a better use of reason at six years and even under that age than others at seven or eight. But it must be borne in mind that the Pope does not say that children should have the full use of reason, or possess a perfect knowledge of christian doctrine, but only *the beginning of the use of reason*, » and a slight knowledge of the principal mysteries of religion necessary for salvation : also knowledge sufficient to distinguish the Eucharistic bread from ordinary food, and to approach the altar with reverence and devotion suitable to their age and condition. In confession they should receive absolution when sufficient matter is given ; otherwise they may be sent to the Holy Table with a simple benediction. Impress upon parents who may think that children could not receive the Divine Eucharist with becoming gravity and respect that tender souls with baptismal innocence cannot make unworthy communions and that the Eucharistic God enters into their unsullied breasts with as much complacency and ardor as He does into the souls of their seniors purified from the stains of sin by repentance ; that Holy Communion was instituted as a preservative of innocence and an antidote against sin rather than a cleansing of the souls and a healing of it after the defilement of sin.

4th— Make known to the people that when children having the use of reason as described above are sick and in danger of death the parents are strictly obliged to notify the pastor to come and hear their confession and give them the last sacraments of viaticum and extreme unction. Should they die they are to be buried with the religious rite for adults and not for infants, so that they may partake

in the suffrages of the Church for her departed children.

5th—Once or oftener every year, the pastor is obliged to have a general communion for children, which should be preceded by a few days of instruction and preparation. After their first communion children are to be exhorted to receive Holy Communion frequently, even daily when such is possible.

6th—Once children have made first communion they must continue to learn the catechism as formerly, and parents in the first place are under the most serious obligation to see to it, that their children do not neglect this all important duty, so that when the time for confirmation arrives the children may have a thorough knowledge of the christian doctrine.

7th—The Pope demands that this decree be made known to priests and people and that it be published every year in the vernacular at Easter time.

† THOS.-F. BARRY,

Bishop of Chatham.

November 21st, 1910,

Fest. . . . . Presentation of B. V. M.

## ENGLISH TRANSLATION OF DECREE AND ITS PROVISIONS

---

Mindful of the words of Christ : " Suffer the little children to come unto Me, and forbid them not, for of such is the kingdom of heaven, " the Church in early times sanctioned the custom of administering the Blessed Eucharist to children who had not yet reached the use of reason. In nearly all the ancient Rituals it was prescribed that at the time of receiving Baptism children should also receive Holy Communion. In the Western Church this custom continued down to the thirteenth century, and is still observed in the Greek and Oriental Churches. To prevent danger of profanation arising from the rejection of the Sacred Species children received the Blessed Eucharist under the species of wine.

Nor was it merely at the time of Baptism that the children were permitted to receive Holy Communion : frequently the Blessed Eucharist was administered to them either immediately after the clergy, or, as happened in some places, after the Communion of adults when any fragments that remained were administered to the children.

This custom gradually died out in the Western Church, and children began to approach the Sacred Table only when they had arrived at the use of reason and had acquired some knowledge of the nature of the Sacrament of the Altar. This new discipline was sanctioned by many particular synods, and finally received the approbation of the Fourth Lateran Council, which, in 1215, prescribed annual Confes-

sion and Communion to all the faithful who had reached the age of discretion.

The Council of Trent, while not condemning the early custom of administering the Blessed Sacrament to children who had not arrived at the use of reason, confirmed the decree of the Lateran Council, and declared anathema against anyone who denied the obligation of going to Confession and of receiving the Blessed Eucharist at least once a year. Hence the discipline of the Lateran Council and of the Council of Trent remains in force that the faithful, as soon as they reach the age of discretion, are bound to go to Confession and Communion once a year.

In determining the meaning of the age of discretion many errors and abuses arose. Some assigned a different age in the case of Confession and in the case of Holy Communion, saying that children are bound by the precept of annual Confession as soon as they are capable of losing grace, while they are subject to the law of annual Communion only at the later period of life when they are capable of having fuller knowledge of the Blessed Eucharist and more devotion at its reception. In many places this view led to the custom of permitting children to approach the altar rails only at the advanced age of ten, or twelve, or even fourteen. The result of this over-scrupulous care for the reverence due to the Blessed Eucharist was that in their tender years they were excluded from the nourishment of the soul which the Blessed Eucharist afforded for the preservation of innocence.

In regard to Confession, in some places the lamentable custom also arose of not allowing children to go to Confession, or of not giving them sacramental absolution until they had arrived at the age when they were permitted to receive Holy Communion, with the result that sometimes they were in danger of long continuing in a state of mortal sin.



It was customary also in some localities not to give the Holy Viaticum to children who were in danger of death, and who were not yet admitted to their first Communion. They were even buried with the rites for infants. Thus they were unduly deprived of the suffrages of the Church.

This unfortunate state of affairs arose from the anxiety of those who demanded unnecessary conditions for the reception of the Blessed Eucharist. They did not advert to the fact that the strictness which exacted these extraordinary preparations was an outcome of Jansenistic errors, which looked on the Blessed Eucharist rather as a reward for merit than as a remedy for human frailty. This teaching was in opposition to the words of Trent, which proclaimed the Blessed Eucharist to be 'an antidote by which we are liberated from daily faults and preserved from mortal sins.' It was also out of harmony with the recent decree of the S. Congregation of the Council, which encouraged all, both old and young, who are in the state of grace and who have the right intention to receive the Blessed Eucharist daily.

These various abuses were the outcome of an inaccurate interpretation of the 'age of discretion' of which the Lateran Council and the Council of Trent spoke. The Lateran Council required the same age of discretion in the case of Confession and in the case of Holy Communion, and the principal commentators of its decrees agreed in this. Thus St. Thomas said: *Quando jam pueri incipiunt aliqualem usum rationis habere, ut possint devotionem concipere hujus Sacramenti (Eucharistiæ), tunc potest eis hoc Sacramentum conferri.* Explaining this point Ledesma said: '*Dico ex omnium consensu, quod omnibus habentibus usum rationis danda est Eucharistia, quantumcumque cito habeant illum usum rationis; esto quod adhuc confuse cognoscat ille puer quid faciat.*' Vasquez and St. Antoninus spoke in similar terms of the admission of children to Holy Communion.

The Council of Trent also understood by the age of discretion the age at which the use of reason was acquired; since its sole reason for the teaching that children, not having the use of reason, were under no obligation to receive the Blessed Eucharist was their inability to commit sin: '*Siquidem adeptam filiorum Dei gratiam in illa aetate amittere non possunt.*' The Council of Rome, held under Benedict XIII, taught the same doctrine when it said that the obligation to receive the Blessed Eucharist began: '*postquam pueruli ac puellae ad annum discretionis pervenerint, ad illam videlicet aetatem in qua sunt apti ad discernendum hunc sacramentalem cibum, qui alius non est quam verum Jesu Christi corpus, a pane communi et profano, et sciunt accedere cum debita pietate ac religione.*' The Roman Catechism indicates the same view in its treatment of the Blessed Eucharist.

From these sources it is clear that the age of discretion in reference to the reception of the Blessed Eucharist is the age at which the child can distinguish the Blessed Eucharist from ordinary bread so that it can approach the altar rails with devotion. Some knowledge of faith is required, but not a complete knowledge; nor is the full use of reason necessary since its incipient use suffices. Hence the custom of deferring to a later age the reception of the Blessed Eucharist merits disapproval.

To remove abuses and to insure that children receive Holy Communion as soon as possible, the S. C. Congregation of the Discipline of the Sacraments now make the following regulations: —

I. The age of discretion both for Confession and for Holy Communion is the time when a child begins to have the use of reason, which is about the age of seven. At this age the two-fold obligation of going to Confession and of receiving the Blessed Eucharist begins.

II. For first Confession and first Communion a full and perfect knowledge of Christian Doctrine is not necessary. The child, however, must subsequently for its capacity gradually learn the Catechism.

III. The knowledge of religion which children require for the reception of first Communion is that which enables them to know the mysteries of religion, knowledge of which is a necessary means of salvation, and to distinguish the Eucharistic bread from ordinary food, so that they can receive the Blessed Sacrament with a devotion suitable to their age.

IV. The obligation of receiving the Sacrament of Penance and Eucharist which is imposed on children redounds especially on those who have charge of the children, namely, on parents, confessors, teachers and parish priests. To the father or the person who takes his place, and to the confessor belongs the duty of admitting the child to first Communion.

V. Parish priests are to take care that once or several times a year there is a general Communion for children, and that not merely first communicants be permitted to approach the rails, but also those who, with the consent of parents or the confessor, have already received their first Communion. For both classes some days of instruction and preparation should be arranged.

VI. Guardians should use their best efforts towards inducing children under their care frequently, even daily, to receive the Blessed Eucharist when once they have been admitted to their first Communion. They should also remember that they are under a most serious obligation to see that these children continue to be present at the public instructions in the catechism, or at least that they receive religious teaching in some other suitable way.

VII. The custom of not admitting to Confession or of

not absolving children who have arrived at the use of reason deserves condemnation. Ordinaries must use their authority completely to eradicate such an abuse.

VIII. The custom of not administering Viaticum and Extreme Unction to children who have arrived at the age of reason, and of burying them with the rite for infants, is deplorable. Ordinaries should severely admonish those who do not give up this practice.

These regulations received the sanction of the Holy Father on August 7th, 1910. Ordinaries are commanded to make this decree known, not only to parish priests and the clergy, but also to the people, to whom the Holy Father wishes the decree to be read in the vernacular every year at the Paschal time. Ordinaries are bound, at the end of each quinquennial period, to give the Holy See an account of the observance of this decree.

Everything else to the contrary notwithstanding.

Given in Rome at the residence of the same S. Congregation on the 8th day of August, 1910.

D. CARDINAL FERRATA, Prefect.

PH. GUISTINE, Secretary.

# DECRET

DE LA

S. CONGRÉGATION DES SACREMENTS

---

L'AGE D'ADMISSION A LA PREMIÈRE COMMUNION

---

De quel amour de prédilection Jésus-Christ sur la terre a entouré les petits enfants, les pages de l'Evangile l'attestent clairement. Ses délices étaient de vivre au milieu d'eux ; il avait l'habitude de leur imposer les mains, de les embrasser, de les bénir. Il s'indigna de les voir repoussés par ses disciples, qu'il réprima par ces paroles sévères : « Laissez venir à moi les petits enfants et ne les en empêchez pas : c'est à leurs pareils qu'appartient le royaume de Dieu. » (Marc, X, 13, 14, 16.) Combien il appréciait leur innocence et leur candeur d'âme, il l'a suffisamment montré quand, ayant fait approcher un enfant, il dit à ses disciples : « En vérité, je vous le dis, si vous ne devenez semblables à ces petits, vous n'entrerez pas dans le royaume des cieux. Quiconque se fera humble comme ce petit enfant, celui-là est plus grand que tous dans le royaume des cieux. Et quiconque reçoit en mon nom un petit enfant comme celui-ci, me reçoit. » (Matth., XVIII, 3, 4, 5).

En souvenir de ces faits, l'Eglise catholique, dès ses

débuts, eut à cœur de rapprocher les enfants de Jésus-Christ par la communion eucharistique, qu'elle avait l'habitude de leur administrer dès leur premier âge. C'est ce qu'elle faisait dans la cérémonie du baptême, ainsi qu'il est prescrit à peu près dans tous les rituels anciens, jusqu'au XIII<sup>e</sup> siècle, et cette coutume s'est maintenue plus tard dans certaines contrées: les Grecs et les Orientaux la conservent encore. Mais pour écarter tout danger de voir des enfants non encore sevrés rejeter le pain consacré, l'usage prévalut dès l'origine de ne leur administrer l'Eucharistie que sous l'espèce du vin.

Après le baptême, les enfants s'approchaient souvent du divin Banquet. Dans certaines églises, on avait pour habitude de communier les petits enfants aussitôt après le clergé, et ailleurs, de leur distribuer les fragments après la communion des adultes.

Puis cet usage disparut dans l'Eglise latine. On ne permit plus aux enfants de s'asseoir à la sainte Table que lorsque les premières lueurs de la raison leur apportaient quelque connaissance de l'auguste Sacrement. Cette nouvelle discipline, déjà admise par quelques Synodes particuliers, fut solennellement confirmée et sanctionnée au IV<sup>e</sup> Concile œcuménique de Latran, en 1215, par la promulgation du célèbre Canon XXI, qui prescrit en ces termes la confession et la communion aux fidèles ayant atteint l'âge de raison: « Tout fidèle des deux sexes, lorsqu'il est parvenu à l'âge de discrétion, doit fidèlement confesser tous ses péchés, au moins une fois l'an, à son propre prêtre, et accomplir avec tout le soin possible la pénitence qui lui est enjointe; il recevra avec dévotion au moins à Pâques, le sacrement de l'Eucharistie, à moins que sur le conseil de son propre prêtre, il ne juge devoir s'en abstenir temporairement pour un motif raisonnable. »

Le Concile de Trente (Sess. XXI, de *Communione*, c. IV), sans réprover aucunement l'antique discipline qui était d'administrer l'Eucharistie aux enfants avant l'âge de raison,

confirma le décret de Latran et anathématisa les partisans de l'opinion adverse : « Si quelqu'un nie que les chrétiens des deux sexes, tous et chacun, parvenus à l'âge de discrétion, soient tenus de communier chaque année, au moins à Pâques, selon le précepte de notre sainte Mère l'Eglise, qu'il soit anathème. » (Sess XIII de *Eucharistia*, c. VIII, can. IX.)

Donc, en vertu du décret de Latran, cité plus haut et toujours en vigueur, les chrétiens, dès qu'ils ont atteint l'âge de discrétion, sont astreints à l'obligation de s'approcher, au moins une fois l'an, des sacrements de la Pénitence et de l'Eucharistie.

Mais dans la fixation de cet âge de raison ou de discrétion, nombre d'erreurs et l'abus déplorable se sont introduits au cours des siècles. Les uns crurent pouvoir déterminer deux âges de discrétion distincts, l'un pour le sacrement de la Pénitence, l'autre pour l'Eucharistie. Pour la Pénitence, à les entendre, âge de discrétion devait signifier celui où l'on peut discerner le bien du mal, et donc pécher ; mais, pour l'Eucharistie, ils requéraient un âge plus avancé, où l'enfant pût apporter une connaissance plus complète de la religion et une disposition d'âme plus mûrie. Ainsi, suivant la variété des usages ou des opinions, l'âge de la première Communion a été fixé ici à dix ou douze ans, là à quatorze ou même davantage, et avant cet âge, la Communion a été interdite aux enfants ou adolescents.

Cette coutume qui, sous prétexte de sauvegarder le respect dû à l'auguste Sacrement, en écarte les fidèles, a été la cause de maux nombreux. Il arrivait, en effet, que l'innocence de l'enfant, arrachée aux caresses de Jésus-Christ, ne se nourrissait d'aucune sève intérieure ; et, par suite, la jeunesse, dépourvue de secours efficaces, et entourée de tant de pièges, perdait sa candeur et tombait dans le vice avant d'avoir goûté aux Saints Mystères. Même si l'on préparait la première Communion par une formation plus sérieuse et une con-

fession soignée, ce qu'on est loin de faire partout, il n'en faudrait pas moins déplorer toujours la perte de la première innocence, qui peut-être eût pu être évitée si l'Eucharistie avait été reçue plus tôt.

N'est pas moins digne de blâme la coutume introduite en plusieurs régions de ne pas confesser les enfants avant leur admission à la sainte Table ou de les priver de l'absolution. Il arrive ainsi qu'ils demeurent longtemps dans les liens de péchés peut-être graves, et c'est un grand péril.

Mais ce qui est souverainement grave, c'est que, en certains pays, les enfants avant leur première Communion même, s'ils se trouvent en danger de mort, ne sont pas admis à communier en viatique, et, après leur mort, sont ensevelis selon les rites prescrits pour les tout petits, et sont ainsi privés du secours des suffrages de l'Eglise.

Tels sont les dommages auxquels on donne lieu quand on s'attache plus que de droit à faire précéder la première Communion de préparations extraordinaires, sans remarquer assez peut-être que ces sortes de précautions scrupuleuses dérivent du jansénisme, qui présente l'Eucharistie comme une récompense et non comme un remède à la fragilité humaine. C'est pourtant la doctrine contraire qu'a enseignée le Concile de Trente, en affirmant que l'Eucharistie est un « antidote qui nous délivre des fautes quotidiennes et nous préserve des péchés mortels » (Sess. XIII, de *Eucharistia*, c. II) ; doctrine qu'a rappelée récemment avec plus de force la S. Congrégation du Concile en permettant, par son décret du 26 décembre 1905, la communion quotidienne à tous les fidèles d'âge avancé ou tendre, à deux conditions seulement : l'état de grâce et l'intention droite.

Et certes, puisque dans l'antiquité on distribuait les restes des Saintes Espèces aux enfants encore à la mamelle, on ne voit aucune raison légitime d'exiger maintenant une pré-



paration extraordinaire des petits enfants qui vivent dans la si heureuse condition de la première candeur et de l'innocence et qui ont le plus grand besoin de cette nourriture mystique au milieu des multiples embûches et dangers de ce temps.

A quoi attribuer les abus que nous réprochons, sinon à ce que, en distinguant deux âges, l'un pour la Pénitence, l'autre pour l'Eucharistie, on n'a ni nettement ni exactement défini ce qu'est l'âge de discrétion ? Et pourtant le Concile de Latran ne requiert qu'un seul et même âge pour les deux sacrements, quand il impose simultanément l'obligation de la confession et de la communion.

Ainsi donc, de même que pour la confession on appelle âge de discrétion celui auquel on peut distinguer le bien du mal, c'est-à-dire auquel on est parvenu à un certain usage de la raison : de même pour la communion on doit appeler âge de discrétion celui auquel on peut discerner le pain Eucharistique du pain ordinaire, et c'est précisément encore l'âge même auquel l'enfant atteint l'usage de la raison.

C'est ainsi que l'ont compris les principaux interprètes et contemporains du Concile de Latran. L'histoire de l'Eglise nous apprend, en effet, que dès le XIII<sup>e</sup> siècle, peu après le Concile de Latran, plusieurs Synodes et décrets épiscopaux ont admis les enfants à la Première Communion à l'âge de sept ans. Un témoignage hors de pair est celui de saint Thomas d'Aquin, qui a écrit : « Lorsque les enfants *commencent* à avoir *quelque* usage de la raison, de manière à pouvoir concevoir de la dévotion pour ce sacrement, (l'Eucharistie), alors on peut le leur administrer. » (*Summ. theol.*, III p., q. LXXX, a. 9, ad 3.) Ce que Ledesma commente en ces termes : « Je dis, et c'est l'avis universel, que l'Eucharistie doit être donnée à tous ceux qui ont l'usage de la raison, quelle que soit leur précocité, et cela même si l'enfant ne sait encore que confusément ce qu'il fait. » (*In S. Thom.*, III p., q. LXXX, a. 9, dub. 6.) Vasquez

explique ainsi le même passage : « Une fois que l'enfant est parvenu à cet usage de la raison, aussitôt il se trouve à ce point obligé par le droit divin lui-même que l'Eglise ne peut absolument pas l'en délier. » (*In S. Thom.*, 2<sup>e</sup> p., disput. CCXIV, c. IV, n. 43.)

Telle est aussi l'opinion de saint Antonin, qui dit : « Mais, lorsque [l'enfant] est capable de malice, c'est-à-dire capable de pécher mortellement, alors il est obligé par le précepte de la confession, et par conséquent de la communion. » (P. III, tit. XVI, c. II, § 5.)

Cette conclusion découle aussi du Concile de Trente. Quand il rappelle (Sess. XXI, c. IV) que « les petits enfants, avant l'âge de raison, n'ont aucun besoin ni aucune obligation de communier », il ne fournit de ce fait qu'une raison, à savoir qu'ils ne peuvent pas pécher : « En effet, dit-il, à cet âge, ils ne peuvent perdre la grâce de fils de Dieu qu'ils ont reçue. » D'où il appert que la pensée du Concile est que les enfants ont le besoin et le devoir de communier lorsqu'ils peuvent perdre la grâce par le péché.

Même sentiment au Concile romain tenu sous Benoît XIII, et qui enseigne que l'obligation de recevoir l'Eucharistie commence « lorsque garçons et fillettes sont parvenus à l'âge de discrétion, c'est-à-dire à l'âge auquel ils sont aptes à discerner cette nourriture sacramentelle, qui n'est autre que le vrai Corps de Jésus-Christ, du pain ordinaire et profane et savent en approcher avec la piété et la dévotion requises. » (*Instruction pour ceux qui doivent être admis à la Première Communion*, append. XXX, p. II.) Le *Catéchisme Romain* s'exprime ainsi : « L'âge auquel on doit donner les Saints Mystères aux enfants, personne n'est plus à même de le fixer que le père et le prêtre à qui ils confessent leurs péchés. C'est à eux qu'il appartient d'examiner, en interrogeant les enfants, s'ils ont quelque connaissance de cet admirable Sacrement et s'ils en ont le désir. » (P. II, *De Sacr. Euch.*, n. 63.)

De tout ces documents, ils ressort que l'âge de discrétion pour la communion est celui auquel l'enfant sait distinguer le pain eucharistique du pain ordinaire et corporel, et peut ainsi s'approcher avec dévotion de l'autel. Ce n'est donc pas une connaissance parfaite des choses de la foi qui est requise, puisqu'une connaissance élémentaire, c'est-à-dire *une certaine connaissance*, suffit. Ce n'est pas, non plus, le plein usage de la raison qui est requis, puisque un commencement d'usage de la raison, c'est-à-dire *un certain usage de la raison*, suffit.

En conséquence, remettre la Communion à plus tard, et fixer pour sa réception un âge plus mûr, est une coutume tout à fait blâmable et maintes fois condamnée par le Saint-Siège. Ainsi, le Pape Pie IX, d'heureuse mémoire, par une lettre du cardinal Antonelli aux évêques de France, le 12 mars 1866, réprova vivement la coutume, qui tendait à s'établir dans quelques diocèses, de différer la première Communion jusqu'à un âge tardif et fixe. De même la S. Congrégation du Concile, le 15 mars 1851, corrigea un chapitre du Concile provincial de Rouen, qui défendait d'admettre les enfants à la Communion avant l'âge de douze ans. Pour la même raison, dans le cas de Strasbourg, le 25 mars 1910, la S. Congrégation des Sacrements, consultée pour savoir si on pouvait admettre les enfants à la sainte Communion à douze ou quatorze ans, répondit : « Les garçons et les fillettes doivent être admis à la sainte Table lorsqu'ils ont atteint l'âge de discrétion, c'est-à-dire lorsqu'ils ont l'usage de la raison. »

Après avoir mûrement pesé toutes ces raisons, la S. Congrégation des Sacrements, réunie en assemblée générale, le 15 juillet 1910, afin que prennent fin définitivement les abus signalés et que les enfants s'approchent de Jésus Christ dès leur jeune âge, vivent de sa vie et y trouvent protection contre les dangers de corruption, a jugé opportun d'établir,

pour être observée partout, la règle suivante sur la première Communion des enfants.

I. L'âge de discrétion, aussi bien pour la communion que pour la confession, est celui où l'enfant commence à raisonner, c'est-à-dire vers sept ans, soit au-dessus, soit même au-dessous. Dès ce moment commence l'obligation de satisfaire au double précepte de la confession et de la communion.

II. Pour la première confession et la première Communion, point n'est nécessaire une parfaite connaissance de la doctrine chrétienne. L'enfant devra cependant ensuite continuer à apprendre graduellement le catéchisme entier, suivant la capacité de son intelligence.

III. La connaissance de la religion requise dans l'enfant pour qu'il soit convenablement préparé à la première Communion est qu'il comprenne, suivant sa capacité, les mystères de la foi, nécessaires de nécessité de moyen, et qu'il sache distinguer le pain eucharistique du pain ordinaire et corporel, afin de s'approcher de la sainte Table avec la dévotion que comporte son âge.

IV. L'obligation du précepte de la confession et de la communion qui touche l'enfant retombe sur ceux-là surtout qui sont chargés de lui, c'est-à-dire les parents, le confesseur, les instituteurs et le curé. C'est au père ou à ceux qui le remplacent et au confesseur qu'il appartient, suivant le Catéchisme Romain, d'admettre l'enfant à la première Communion

V. Qu'une ou plusieurs fois par an, les curés aient soin d'annoncer et d'avoir une communion générale des enfants, et d'y admettre, non seulement les nouveaux communicants, mais les autres qui, du consentement de leurs parents ou de leur confesseur, comme on l'a dit plus haut, auraient déjà pris part

à la Table sainte. Qu'il y ait pour tous quelques jours de préparation et d'instruction.

VI. Ceux qui ont charge des enfants doivent mettre tous leurs soins à les faire approcher très fréquemment de la sainte Table après leur première Communion et, si c'est possible, même tous les jours, comme le désirent le Christ Jésus et notre Mère la sainte Eglise ; qu'on veille à ce qu'ils le fassent avec la dévotion que comporte leur âge. Que ceux qui ont cette charge se rappellent aussi le très grave devoir qui leur incombe de veiller à ce que ces enfants assistent aux leçons publiques de catéchisme, sinon qu'ils pourvoient autrement à leur instruction religieuse.

VII. La coutume de ne pas admettre à la confession ou de ne jamais absoudre les enfants qui ont atteint l'âge de raison est tout à fait à réprover. Les Ordinaires auront donc soin de la faire disparaître totalement en employant même les moyens de droit.

VIII. C'est un abus tout à fait détestable que de ne pas donner le Viatique et l'Extrême-Onction aux enfants après l'âge de raison et de les enterrer suivant le rite des enfants. Que les Ordinaires reprennent sévèrement ceux qui n'abandonneraient pas cet usage.

Ces décisions des Eminentissimes cardinaux de la S. Congrégation, Notre Saint-Père le pape Pie X, dans l'audience du 7 août, les a toutes approuvées, et a ordonné de publier et promulguer le présent décret. Il a prescrit, en outre, à tous les Ordinaires de faire connaître ce décret, non seulement aux curés et au clergé, mais encore aux fidèles auxquels on devra le lire en langage vulgaire, tous les ans, au temps pascal. Quant aux Ordinaires, ils devront, tous les cinq ans, rendre compte au Saint-Siège, en même temps que des autres affaires de leur diocèse, de l'exécution de ce décret.

Nonobstant toutes choses contraires.

Donné à Rome, du Palais de la S. Congrégation des Sacrements, le 8 août 1910.

D. card. FERRATA, *préfet*.

PH. GIUSTINI, *secrétaire*.

CHATHAM, N. B., December 8th, 1910.

Feast of the Immaculate Conception.

REVEREND FATHER,

Our Holy Father has given a new proof of the solicitude with which he guards the flock committed to his care. In directing his attention to the moral needs of the faithful by encouraging frequent Communion, he does not lose sight of the dangers to which they may be exposed in doctrine. To safe-guard them and to insure that only the true doctrine of the Gospel be taught he has on the first day of September last issued a *«motu proprio»* by which he enjoins upon all Bishops and Superiors of Religious Orders the necessity of receiving from the various classes of the clergy their adherence to the true Catholic teaching of Holy Mother Church as opposed to the insidious heresy known as *«Modernism.»* His Holiness orders the Bishops therefore to administer to their clergy before Dec. 31st, 1910, the subjoined oath, the clergy having previously made profession of their faith according to the formula prescribed by Pope Pius IV along with the added definitions of the Council of the Vatican. For your convenience We are sending you herewith a copy of the Profession of Faith.

From answers given to questions by the Sacred Consistorial Congregation on September 25th last We learn that all the priests of the diocese are to take this oath. We also understand that for a just cause the Bishops may delegate

some priest to receive the profession of faith and the oath in his stead. As it would be impossible for all the priests of the Diocese to come to Chatham before the 31st We hereby delegate the following priests to receive the oath in the various counties, viz: Mgr Dugal for Victoria and Madawaska; Mgrs Allard and Varrilly for Gloucester; Mgr Richard for Kent, including Rogersville; Rev. A.-A. Boucher for Ristigouche. The senior priest of those who make the oath to these delegates is appointed to receive the oaths of those mentioned above. The priests of Northumberland will take the oath at Chatham. The delegates will send us a written and signed report testifying that all within their various districts have complied with the commands of the Holy Father, and will return to Us the oath signed by each priest.

We desire also to make known that it is now a matter of grave obligation for the Vigilance Committee to meet with the Bishop every second month. The next meeting will be held at Chatham on Wednesday, January 18th, 1911, and all the members of the Committee are expected to attend.

Yours very truly in Xto.

† THOS.-F. BARRY,

Bishop of Chatham.



## PROFESSIO FIDEI

Ego .....  
firma fide credo, et profiteor omnia, et singula quæ continentur in symbolo fidei, quo sancta Romana Ecclesia utitur: videlicet Credo in unum Deum, Patrem omnipotentem, factorem cœli et terræ, visibilium omnium, et invisibilium. Et in unum Dominum Jesum Christum, Filium Dei unigenitum. Et ex Patre natum, ante omnia sæcula. Deum de Deo, lumen de lumine, Deum verum de Deo vero. Genitum, non factum, consubstantialem Patri, per quem omnia facta sunt. Qui propter nos homines, et propter nostram salutem descendit de cœlis. Et incarnatus est de Spiritu Sancto ex Maria Virgine: et homo factus est. Crucifixus etiam pro nobis, sub Pontio Pilato passus et sepultus est. Et resurrexit tertia die, secundum Scripturas. Et ascendit in cœlum; sedet ad dexteram Patris. Et iterum venturus est cum gloria judicare vivos et mortuos; cujus regni non erit finis. Et in Spiritum sanctum Dominum, et vivificantem: qui ex Patre Filioque procedit. Qui cum Patre et Filio simul adoratur, et conglorificatur: qui locutus est per Prophetas. Et unam sanctam Catholicam et Apostolicam Ecclesiam. Confiteor unum Baptisma in remissionem peccatorum. Et exspecto resurrectionem mortuorum. Et vitam venturi sæculi. Amen. Apostolicas, et Ecclesiasticas traditiones, reliquasque ejusdem Ecclesiæ observationes, et constitutiones firmissime admitto et amplector.

Item sacram Scripturam juxta eum sensum, quem tenuit et tenet sancta mater Ecclesia, cujus est judicare de vero sensu et interpretatione sacrarum Scripturarum, admitto;

nec etiam umquam nisi juxta unanimem consensum Patrum accipiam et interpretabor.

Profiteor quoque septem esse vere et proprie Sacramenta novæ legis, a Jesu Christo Domino nostro instituta, atque ad salutem humani generis, licet non omnia singulis necessaria, scilicet Baptismum, Confirmationem, Eucharistiam Pœnitentiam, Extremam Unctionem, et Matrimonium; illaque gratiam conferre, et ex his Baptismum, Confirmationem, et Ordinem, sine sacrilegio reiterari non posse. Receptos quoque et approbatos Ecclesiæ Catholicæ ritus, in supradictorum omnium Sacramentorum solemni administratione recipio et admitto: omnia et singula quæ de peccato originali, et de justificatione, in sacrosancta Tridentina Synodo definita et declarata fuerunt, amplector et recipio.

Profiteor pariter in Missa offerri Deo verum, proprium, et propitiatorium sacrificium, pro vivis, et defunctis; atque in sanctissimo Eucharistiæ Sacramento esse vere, realiter et substantialiter Corpus, et Sanguinem una cum anima. et divinitate Domini nostri Jesu Christi, fierique conversionem totius substantiæ panis in Corpus, et totius substantiæ vini in Sanguinem, quam conversionem Catholica Ecclesia Transubstantiationem appellat.

Fateor etiam sub altera tantum specie, totum atque integrum Christum, verumque Sacramentum sumi. Constante teneo Purgatorium esse, animasque ibi detentas fidelium suffragiis juvari. Similiter et Sanctos una cum Christo regnantes, venerandos atque invocandos esse; eosque orationes Deo pro nobis offerre; atque eorum reliquias esse venerandas. Firmissime assero imagines Christi, ac Deiparæ semper Virginis, necnon aliorum Sanctorum habendas et retinendas esse, atque eis debitum honorem ac venerationem imperitiendam. Indulgentiarum etiam potestatem a Christo in Ecclesia relictam fuisse; illarumque usum christiano populo maxime salutarem esse affirmo. Sanctam Catholicam, et

Apostolicam Romanam Ecclesiam, omnium Ecclesiarum matrem, et magistram agnosco; Romanoque Pontifici, beati Petri Apostolorum principis successori, ac Jesu Christi Vicario veram obedientiam spondeo, ac juro. Cetera item omnia a sacris Canonibus, et œcumenicis Conciliis, ac præcipue a sacrosancta Tridentina Synodo et ab œcumenico Concilio Vaticano tradita, definita, et declarata, præsertim de Romani Pontificis Primatu et infallibili magisterio indubitanter recipio atque profiteor; simulque contraria omnia, atque hæreses quascunque ab Ecclesia damnatas, et rejectas, et anathematizatas, ego pariter damno, rejicio, et anathematizo. Hanc veram Catholicam fidem, extra quam nemo salvus esse potest, quam in præsentī sponte profiteor, et veraciter teneo, eandem integram, et inviolatam, usque ad extremum vitæ spiritum, constantissime (Deo adjuvante) retinere, et confiteri, atque a meis subditis, vel illis, quorum cura ad me in munere meo spectabit, teneri, doceri, et prædicari, quantum in me erit, curaturum. Ego idem spondeo, voveo, ac juro. Sic me Deus adjuvet, et hæc sancta Dei Evangelia.

## JURISJURANDI FORMULA

Ego .....  
firmiter amplector ac recipio omnia et singula, quæ ab inerranti Ecclesiæ magisterio definita, adserta ac declarata sunt, præsertim ea doctrinæ capita, quæ huius temporis erroribus directo adversantur. Ac primum quidem Deum, rerum omnium principium et finem, naturali rationis lumine per ea quæ facta sunt, hoc est per *visibilia* creationis opera, tamquam causam per effectus, certo cognosci, adeoque demonstrari etiam posse, profiteor. Secundo: externa revelationis argumenta, hoc est facta divina, in primis quæ miracula et prophetias admitto et agnosco tamquam signa certissima divinitus ortæ christianæ Religionis, eademque teneo ætatum omnium atque hominum, etiam huius temporis, intelligentiæ esse maxime accommodata. Tertio: firma pariter fide credo, Ecclesiam, verbi revelati custodem et magistratam, per ipsum verum atque historicum Christum, quum apud nos degeret, proxime ac directo institutam, eademque super Petrum, apostolicæ Hierarchiæ principem eiusque in ævum successores ædificatam. Quarto: Fidei doctrinam ab Apostolis per orthodoxos Patres eodem sensu eademque semper sententia ad nos usque transmissam, sincere recipio; ideoque prorsus relicto hæreticum commentum evolutionis dogmatum, ab uno in alium sensum transeuntium, diversum ab eo, quem prius habuit Ecclesia; pariterque damno errorem omnem, quo divino deposito, Christi Sponsæ tradito ab Eâque fideliter custodiendo, sufficitur philosophicum inventum, vel creatio humanæ conscientiæ, hominum conatu sensim efformatæ et in posterum indefinito progressu perticiendæ. Quinto: certissime teneo ac sincere

profiteor. Fidem non esse cœcum sensum religionis e latebris *subscientiæ* erumpentem, sub pressione cordis et inflexionis voluntatis moraliter informatæ, sed verum assensum intellectus veritati extrinsecus acceptæ ex auditu, quo nempe, quæ a Deo personali, creatore ac domino nostro dicta, testata et revelata sunt, vera esse credimus, propter Dei auctoritatem summe veracis.

Me etiam, qua per est, reverentia, subiicio totoque animo a thæreo damnationibus, declarationibus, præscriptis omnibus, quæ in Encyclicis litteris « *Pascendi* » et in Decreto « *Lamentabili* » continentur, præsertim circa eam quam historiam dogmatum vocant. — Item reprobo errorem affirmantium, propositam ab Ecclesia fidem posse historiæ repugnare, et catholica dogmata, quo sensu nunc intelliguntur, cum verioribus christianæ religionis originibus componi non posse. — Damno quoque ac reiicio eorum sententiam, qui dicunt, christianum hominem eruditorem induere personam duplicem, aliam credentis, aliam historici, quasi liceret historico ea retinere quæ credentis fidei contradicant, aut præmissas adstruere ex quibus consequatur dogmata esse aut falsa aut dubia, modo hæc directo non denegentur. — Reprobo pariter eam Scripturæ Sanctæ diiudicandæ atque interpretandæ rationem, quæ, Ecclesiæ traditione, analogia Fidei, et Apostolicæ Sedis normis posthabitis, *rationalistarum* commentis inhæret, et critice textus velut unicam supremamque regulam, haud minus licenter quam temere amplectitur. — Sententiam præterea illorum reiicio qui tenent, doctori disciplinæ historicæ theologicæ tradendæ, aut iis de rebus scribenti seponendam prius esse opinionem ante conceptam sive de supernaturali origine catholicæ traditionis, sive de promissa divinitus ope ad perennem conservationem uniuscuiusque revelati veri; deinde scripta Patrum singulorum interpretanda solis scientiæ principiis, sacra qualibet auctoritate seclusa, eaque indici libertate, qua profana quævis monumenta solent investigari.

— In universum denique me alienissimum ab errore profiteor, quo *modernistæ* tenent in *sacra* traditione nihil inesse divini; aut, quod longe deterius, pantheistico sensu illud admittunt; ita ut nihil iam restet nisi nudum factum et simplex, communibus historiæ factis æquandum; hominum nempe sua industria, solertia, ingenio scholam a Christo eiusque apostolis inchoatam per subsequentes ætates continuantium. Proinde fidem Patrum firmissime retineo et ad extremum vitæ spiritum retinebo, de charismate *veritatis certo*, quod est, fuit eritque semper in *episcopatus ab Apostolis successione*; non ut id teneatur quod melius et aptius videri possit secundum suam cuiusque ætatis culturam, sed ut *nunquam aliter credatur, nunquam aliter intelligatur* absoluta et immutabilis veritas ab initio per Apostolos prædicata.

Hæc omnia spondeo me fideliter, integre sincereque servaturum et inviolabiliter custoditurum, nusquam ab iis sive in docendo sive quomodolibet verbis scriptisque deflectendo. Sic spondeo, sic iuro, sic me Deus adjuvet, et hæc sancta Dei Evangelia.

CHATHAM, N. B., Dec. 21st, 1919

## CHRISTMAS GREETINGS

REVEREND AND DEAR FATHER,

The ever joyous and holy season of Christmas and the New Year is at hand, and we desire to offer to all—priests, members of Religious Communities and faithful laity of our Diocese,—our best wishes for a holy Christmas and a very happy New Year.

We can assure you all that our most fervent prayers will be offered to The Divine Babe of Bethlehem in thanksgiving for past favors to us all, beseeching Him to bestow upon us His choicest blessings on the great feast of His Nativity, and to graciously vouchsafe that the coming New Year be a happy and meritorious one for each and every one of us.

You will no doubt be pleased to know that the addition of the Lady Chapel to the Cathedral is now about complete. This work, it is true, adds nearly \$ 15,000 to our already large Diocesan debt, but we could not leave the work of the Cathedral without adding to it a monument, as a token of our love and devotion to the great Mother of God, the Ever Immaculate Virgin Mary: *Ad Jesum per Mariam*.

Again we beg to thank all those who have helped in any way the afflicted Congregation of Campbellton. Chiefly by means of their donations, the Congregation has erected a temporary Church and School, larger than the ones destroyed

in the fire, which will afford ample accommodation for a few years till the Town be rebuilt and a permanent site for the new church be selected.

The Hotel Dieu Community has also constructed new buildings for the most part permanent, but on a much smaller scale than the original ones, susceptible however of enlargement when means justify the same.

We have to communicate to you the sad news of the demise of one of our young priests, the Rev. Ernest D'Amours, which took place at Trois Pistoles, in the Province of Quebec, on the 10th inst. Each priest of the Diocese is directed by the Council of Halifax to offer up the holy Sacrifice of the Mass for the repose of his soul, which duty you are requested to comply with as soon as possible, if you have not already done so.

Offering you our grateful thanks for all the kindness and good-will shown towards us during the year now about to close, and asking a continuance of your good prayers,

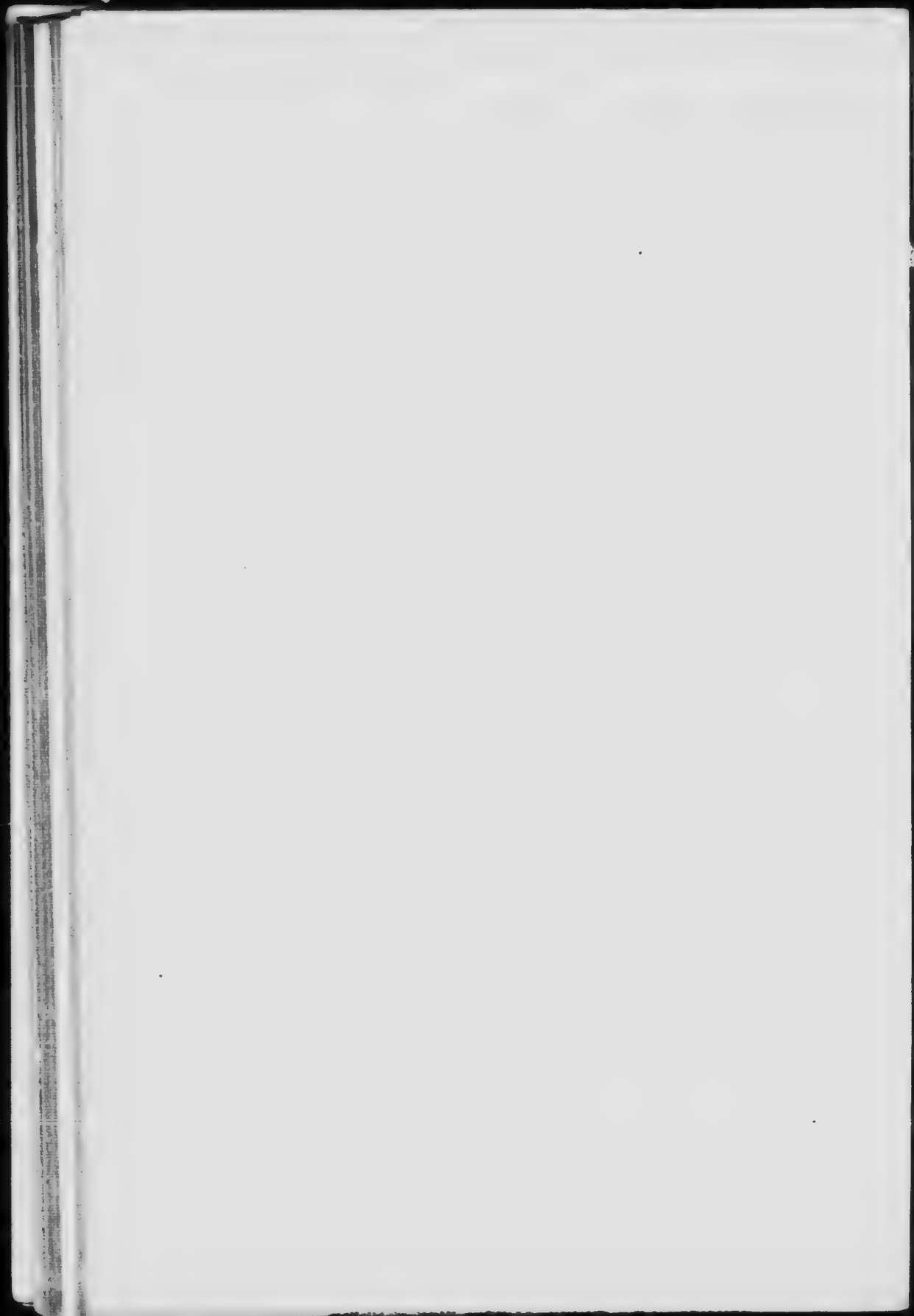
We remain

Devotedly yours in Xto,

† THOS.-F. BARRY,

Bp. of Chatham.







# Returns from the Missions of the Diocese of Chatham for 1910.

| MISSIONS.          | Epi. Coll. | Compon. | Af. Miss. | H. Land. | H. Oils. |
|--------------------|------------|---------|-----------|----------|----------|
| Acedi-ville        | 32 00      | 18 00   |           | 5 30     |          |
| Baker Lake         | 20 00      | 4 00    |           | 2 82     |          |
| Balmoral           | 45 08      | 21 00   | 3 08      |          | 1 00     |
| Barnaby River      | 76 50      | 4 00    |           |          | 1 00     |
| Bartiboga          | 200 00     | 59 00   | 5 16      | 10 00    |          |
| Bathurst (Town)    | 86 00      | 44 80   | 4 00      | 5 00     |          |
| Bathurst (Village) | 55 70      | 97 00   |           | 10 00    |          |
| Bellelune          | 43 00      | 18 00   | 2 00      | 5 25     | 1 00     |
| Black Point        | 20 25      |         |           |          |          |
| Blackville         | 04 43      | 102 00  | 0 00      | 16 00    | 1 00     |
| Buestown           | 35 00      | 9 00    | 22 00     | 7 70     | 1 00     |
| Burut Church       | 1041 01    | 01 00   | 13 02     | 24 35    |          |
| Campbellton        | 14 20      | 9 50    |           |          |          |
| Charapuet          | 39 00      | 24 00   | 3 20      | 10 00    |          |
| Charlo             | 35 00      | 157 00  | 8 90      | 13 00    | 50       |
| Chatham            | 20 03      | 22 00   | 1 57      | 12 10    |          |
| Chalbrook          | 84 75      | 27 00   | 5 17      |          | 1 00     |
| Dalhousie          | 8 75       | 28 00   | 2 00      | 2 57     |          |
| Drummond           | 33 00      | 55 00   | 6 00      | 12 36    | 1 00     |
| Dunfee             | 30 01      | 10 95   |           |          |          |
| Elmiston           | 53 40      | 20 50   | 5 90      | 7 50     | 1 00     |
| Esquimaux          | 30 01      | 8 00    | 1 50      | 1 50     |          |
| Grand Anse         | 50 05      | 8 00    |           |          |          |
| Grand Fall         | 74 20      |         |           |          |          |
| Jacquet River      | 11 57      | 51 50   | 5 00      | 2 00     | 1 00     |
| La Ance            | 17 01      | 10 50   | 8 00      | 4 00     | 1 00     |
| Loggieville        | 150 01     | 19 50   | 15 51     | 17 27    |          |
| Lower Orapuet      | 187 38     | 41 00   | 10 57     | 7 70     |          |
| Miscod             | 13 00      | 85 50   | 5 25      | 12 00    |          |
| Negitac            | 112 00     |         |           |          |          |
| Nelson             |            |         |           |          |          |
| Newcastle          |            |         |           |          |          |
| Pacquetville       |            |         |           |          |          |
| Petit Rocher       |            |         |           |          |          |

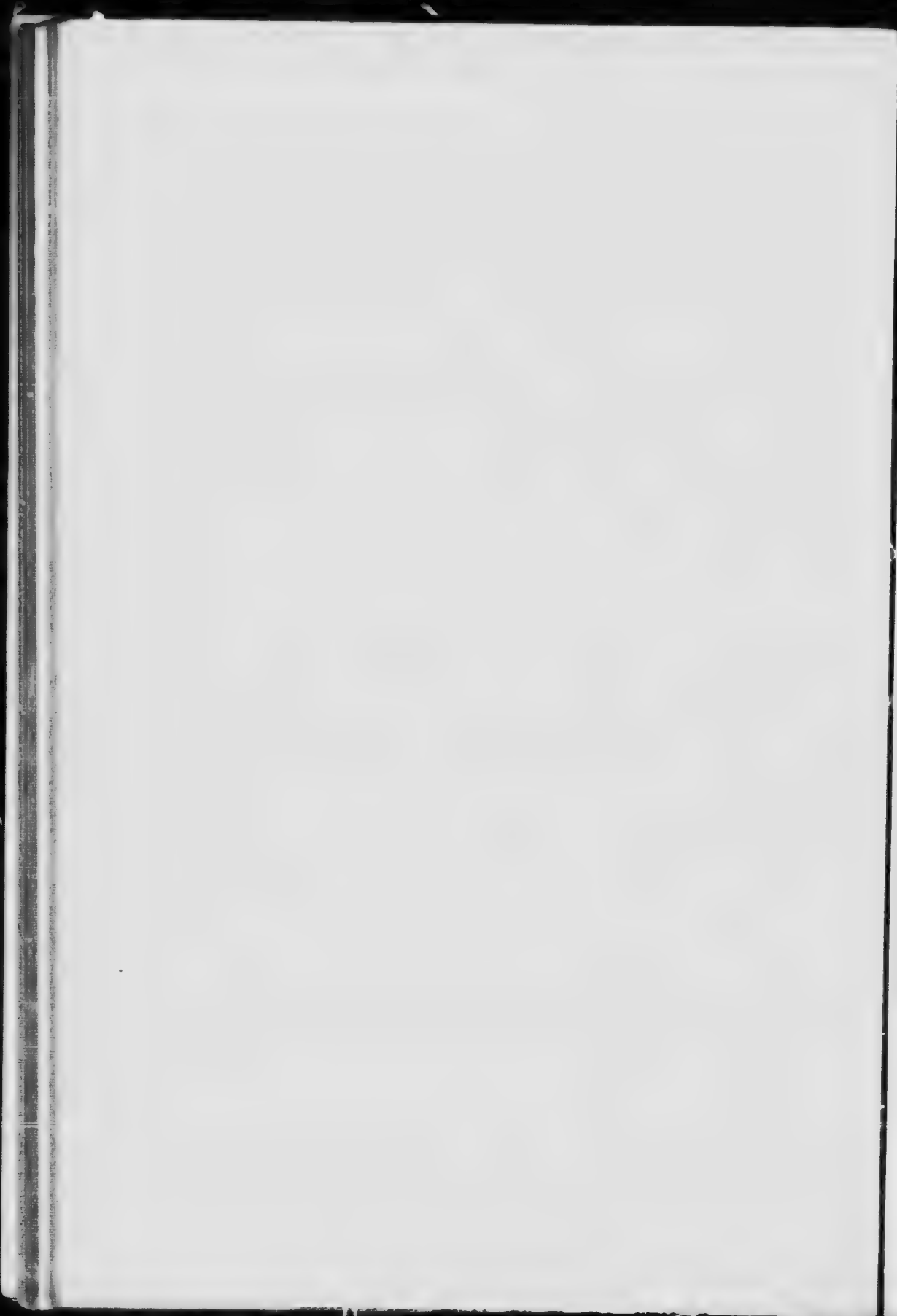
|                                  |                   |               |                  |                  |                 |
|----------------------------------|-------------------|---------------|------------------|------------------|-----------------|
| Negus                            | 17 00             | 51 50         | 5 00             | 4 00             | 1 00            |
| Nelson                           | 150 00            | 10 50         | 8 00             | 2 00             | 1 00            |
| Newcastle                        | 187 38            | 8 00          | 15 51            | 17 27            |                 |
| Pacquetville                     | 13 00             | 41 00         | 10 57            | 7 70             |                 |
| Petit Risher                     | 112 00            | 85 50         | 5 25             | 12 00            |                 |
| Pokamache (Upper)                | 47 75             | 15 00         | 5 00             | 5 20             | 2 00            |
| Pokamache (Lower)                | 21 00             | 5 00          | 3 00             | 4 00             |                 |
| Relbank                          | 10 00             |               | 2 00             |                  |                 |
| Rensselaer                       | 15 00             | 8 00          |                  |                  |                 |
| Richtbueco                       | 52 00             | 16 50         | 5 00             | 3 50             | 1 00            |
| Rogersville                      | 51 00             | 29 00         | 4 00             | 5 00             | 2 00            |
| Shippagan                        | 18 00             | 39 50         |                  |                  |                 |
| St. Andrew                       | 35 00             | 20 50         | 1 00             | 5 00             | 1 00            |
| St. Anne                         |                   |               | 5 00             | 4 00             | 1 00            |
| St. Basil                        | 55 00             | 58 00         | 0 30             | 10 20            |                 |
| St. Charles                      | 20 00             | 35 50         | 2 50             | 2 50             |                 |
| St. Francis Xavier               | 27 80             | 94 00         | 1 50             | 4 20             | 50              |
| St. Francis of Assisi (Chap)     | 10 00             | 76 50         | 2 05             | 8 50             |                 |
| St. Hilaire                      | 35 50             | 43 50         | 3 55             | 10 33            | 2 00            |
| St. Ignatius                     | 14 00             | 10 00         |                  | 8 00             |                 |
| St. Isidore                      |                   | 20 00         | 8 03             | 13 85            |                 |
| St. Jacques                      | 24 75             | 22 00         | 8 65             | 2 40             | 2 20            |
| St. Lannar                       | 25 00             | 51 00         | 4 20             | 4 00             |                 |
| St. Louis                        | 25 00             | 52 50         | 9 00             | 9 35             | 1 00            |
| St. Theresa                      | 32 00             | 114 50        | 4 00             | 5 00             |                 |
| Tobique                          |                   |               |                  |                  |                 |
| Tracadie                         | 70 20             | 136 00        | 13 45            | 20 00            | 1 00            |
| Upper Bay du Vin (St. Margarets) | 98 00             | 12 00         | 4 00             | 4 00             |                 |
| <b>Totals</b>                    | <b>\$ 3489 20</b> | <b>104 25</b> | <b>\$ 244 24</b> | <b>\$ 324 79</b> | <b>\$ 25 20</b> |

Am'ts Still Due on Cathedral Subscript. of Sept. 1903.

|              |                  |
|--------------|------------------|
| Grand Ave    | \$ 80 00         |
| St. Isidore  | 176 50           |
| <b>Total</b> | <b>\$ 256 50</b> |

You are respectfully requested to kindly notify us of any errors or omissions in the present lists as also to forward Returns to Chancellor in future BEFORE THE END OF THE CURRENT YEAR, and to state the amount from each of your missions, Chatham, N. B., Feb. 2nd, 1911.

LOUIS O'LEARY.



# PASTORAL LETTER

OF

THE RT. REV. THOS.-F. BARRY, D. D.,  
BISHOP OF CHATHAM

---

THOMAS-FRANCIS, BY THE GRACE OF GOD, AND FAVOR  
OF THE APOSTOLIC SEE, BISHOP OF CHATHAM

*To the Reverend Clergy, Religious Communities  
and Faithful Laity of the Diocese of Chatham,  
Health and Benediction in the Lord :*

«THOU SHALT NOT STEAL.» EXOD., XX-15. «THOU SHALT  
NOT COVET THY NEIGHBOR'S HOUSE. . . NOR ANYTHING THAT IS  
HIS.» EXOD., XX-17.

DEARLY BELOVED,

As We have set forth in Our former Pastoral Letters, the object of the Fifth Commandment is to defend the life of our fellow-man against unjust aggression, and the aim of the sixth and ninth to safeguard his honor and that of his family. Such is the goodness and solicitude of God in man's regard that he wishes also to protect him in the just possession of his temporal goods and property by forbidding all kinds of injustice towards him. Hence the Seventh and Tenth Command-

ments. «Thou shalt not steal,» (Exod., XX-15). «Thou shalt not covet thy neighbor's house, . . . nor anything that is his,» (Exod., XX-17).

These two commandments teach us that God is not satisfied with outward justice alone, but likewise commands us to have an upright and honest heart and will. Whatever is unlawful for us to do is also unlawful for us to desire. «All things whatsoever you would that men should do to you, do you also to them,» (Matt., VII-12). «As you wish others to be just to you, so should you be to them in all things,» (Luke, VI-31). And «See thou never do to another what thou wouldst hate to have done to thee by another,» (Job, IV-16). By these golden rules we can easily know when we act justly or unjustly towards our neighbor.

The Seventh and Tenth Commandments having in this sense the same object may be treated under the one head; and like all the other precepts, may be divided into two parts, viz: one prohibitory which is expressly mentioned, the other mandatory which is virtually implied in the former.

#### 1st — THE PROHIBITORY PART.

The scope and subject matter of the seventh and tenth commandments are so vast and varied that We must necessarily omit many things and abbreviate and epitomize the others to bring them within the limits of a brief Pastoral Letter. We shall therefore speak only of the more ordinary ways by which these commandments are violated, such as theft robbery, covetousness and usury.

*1st — Theft.* «By theft,» says the Catechism of the Council of Trent, «is understood not only the taking away of anything from its rightful owner privately and without his consent; but also the possession of that which belongs to another, contrary to the will, although not without the know-

ledge of the proper owner.\* The learned and pious Bishop Hay defines theft in a stricter sense as «the unjust taking away or retaining what belongs to another against his will by secret fraud.» By secret fraud is meant those hidden ways of taking our neighbor's goods — by stealing, cheating, deceiving or imposing upon him when he is not sensible of the evil done.

Theft may be public or private. There is public theft when things are stolen from the Government or the public treasury. Those who misapply public funds or turn them to their own or their friends' private use are guilty of public theft. Those who hold public offices and do not acknowledge all they have received, or who charge the public with what they have not expended, are guilty also of public theft. Witnesses who cause others to suffer loss by giving false testimony or concealing the truth; professional men who neglect the interests of their clients, and thus cause them injury or loss; those who unfairly take advantage of the law to keep or obtain what justly belongs to another; persons in public offices or positions of trust who take bribes and administer their office unfaithfully are all guilty of injustice and public theft. Some classify as public theft to defraud laborers of their wages. Those who do so are guilty of a grave injustice, for it is written: «Behold the hire of the laborers who have reaped down your fields, which by fraud has been kept back by you, crieth; and the cry of them hath entered into the ears of the Lord of Sabaoth.» (S. James, V 5). The unnecessary delay of the laborers' hire is equally reprehensible. «Thou shalt not refuse the hire of the needy and the poor. . . But thou shalt pay him the price of his labor the same day, before the going down of the sun, because he is poor and with it maintains his life; lest he cry against thee to the Lord and it be reputed to thee for a sin.» (Deut., XXIV-14,15). «If any man hath done any work for thee immediately pay him his hire and let



not the wages of thy hired servant stay with thee at all.»  
(Tob., IV-5. )

There are also private thefts between man and man. It would be tedious if not impossible to mention the variety of ways and means by which such thefts are committed. We shall refer to a few only of these unjust practices. (1)— Taking from the rich to give to the poor under pretence of alms, or under the plea that what is taken is of no value to them, that they will not miss it or that they will not become poorer for the money or goods thus taken. The Catechism of the Council of Trent calls this an unjust and wicked pretence. (2) — Servants who waste their master's goods or steal them for themselves or others; who sell what belongs to their master and keep the money, or who in buying or selling overstate the price and retain the surplus. (3) — Children who take their parents' property without their knowledge or consent and spend it in amusement and pleasure. Such conduct on the part of children is strongly condemned in Holy Scripture: « He that stealeth anything from his father or his mother and saith, This is no sin, is the partner of a murderer,» (Prov., XXVIII-24). (4) — Laborers who do not employ in the service of their master the time for which they are hired and paid, or who perform their work badly, or permit their employer's goods, of which they have charge, to be lost or damaged. (5) — Merchants and traders who sell their goods for more than their value, or conceal their defects, thus taking undue advantage of their neighbor's innocence, ignorance or necessities. (6) — Those who in buying or selling use false weights and measures, thereby committing flagrant injustice which in many places in Holy Scripture is threatened with dire punishment: « Thou shalt not have divers weights in thy bag, a greater and a less; neither shall there be in thy house a greater bushel and a less. Thou shalt have a just and a true weight, and thy bushel shall be equal and true, that thou mayest live a long life upon the land which the Lord thy God shall give

thee; for the Lord thy God abhorreth him that doth these things and he hateth all injustice," (Deut., XXV-13). And again: "A deceitful balance is an abomination before the Lord, and a just weight is his will," (Prov., XI-1). "Divers weights and divers measures both are an abomination before God," (Prov., XX-10).

*2nd — Robbery* — rapine or plunder, is defined by the Rt. Rev. Theologian above mentioned as, "the unjust taking away or retaining what belongs to another against his will or by open violence." The Catechism of the Council of Trent describes this kind of injustice in similar terms. Hence robbery is a more grievous offence than theft since besides the taking away of his property it offers violent outrage to the injured party. There are different degrees of malice in this sin according to the greatness of the extortion and the circumstances accompanying it. They are guilty of it who oppress the orphans, the widow and the poor by taking advantage of their helpless condition to make unjust demands upon them. Holy Writ threatens the anger of God in all kinds of calamities against those who are culpable of such a crime. "Touch not the bounds of little ones, and enter not into the field of the fatherless; for their near kinsman is strong and he will judge their cause against thee," (Prov., XXIII-10). "The bread of the needy is the life of the poor; he that defraudeth them thereof is a man of blood. He that taketh away the bread that is gotten by sweat is like him that killeth his neighbor. He that sheddeth blood and he that defraudeth the laborer of his hire are brothers," (Eccles., XXXIV, 25-27). Those who rob on the highway, and those who contract debts with merchants or others and then refuse to pay or defer payment to the loss or injury of their creditors are guilty of this kind of injustice. Also those whose abuse of their authority to despoil others as Jazobel did to Naboth in violently depriving him of his vineyard, (3 Kings, XXI); or as in the parable of the rich man who, notwithstanding his own great riches "in the possession

of many sheep and oxen, still, in order to make a feast for his guest, deprived his poor neighbor of his cherished « little ewe lamb which he had brought up and nourished and which had grown up in his house together with his children,» (2 Kings, XXI).

Theft and robbery may be committed not only by taking what belongs to another but also by retaining the ill-gotten goods. This may take place in different ways: (1) — By refusing to give back what has been unjustly taken or entrusted to one's care. (2) — By profiting of faults or errors made in accounts. (3) — By not seeking with reasonable care the rightful owners of things found. (4) — By keeping things received in good faith but the possession of which is found afterwards to be illegitimate. (5) — Preventing others by bad advice from restoring stolen goods. In a word all those are guilty of theft, who encourage others or take part with them in stealing, cheating, robbing and keeping unjustly what belongs to another.

The sin of injustice committed by public or private theft, by robbery or plunder, is of its own nature a grievous sin. St. Paul mentions it with the sins that exclude from Heaven: « Know you not,» says he in his first Epistle to the Corinthians, « that the unjust shall not possess the Kingdom of God,» (1 Cor., VI-19). The different passages of Sacred Scripture which We have already referred to show how contrary this sin is to the Will of God and the universal law of Charity towards our neighbor which forbids us to do to him what we would not wish that he should do to us. It is a violation of the laws of the State made for the people's benefit and the good government of the Commonwealth. In many cases, however, the guilt of theft does not constitute a grave crime, for the gravity of the offence must be in proportion to the thing stolen or the injury done. The circumstances of persons, of time and place must also be considered in order

to determine the gravity of the fault. A slight theft also may in some circumstances be the cause of grave injury and hence a grievous sin, as for example when a trifling amount is taken from a very poor person — a widow or orphan — which may cause great inconvenience and much hardship. Again when the *intention* in taking small things is to acquire ultimately a considerable amount by such small thefts, the sin is grave. To steal an article pertaining to religion or from a holy place is a more serious sin than ordinary theft since it contains also the crime of sacrilege.

*Extreme Necessity* takes away the culpability of theft. If a person be in extreme necessity or finds his neighbor in such a condition he is justified in taking what is necessary to relieve his most urgent want or that of his fellow-man. Also *Occult Compensation*, in very rare circumstances and when there remains no other way of recovering what is justly due, is not beyond the limits of justice. In such cases, however, the judgement of the learned and especially of the confessor should be the guide of the faithful.

*3rd — Covetousness and Avarice* — The will and desire of theft as well as actual theft are forbidden by these commandments «Thou shalt not covet thy neighbor's house . . . nor any thing that is his,» (Exod , XX-17). The law of God forbidding injustice towards our neighbor is spiritual and regards the soul, the source and principle of all our thoughts and desires. «From the heart,» says the LORD, «come forth evil thoughts . . . thefts . . . false testimonies,» (Matth., XV.-19.) Avarice or covetousness may be called an inordinate desire or love of money or other worldly goods in such a way as to make them the principle pursuit of life, to seek one's happiness in them and to be always anxious and uneasy about them. Two kinds may be considered : the one inciting in us unlawful desires of our neighbor's goods in so far as to deliberately make use of unfair means to procure them, such as lying, cheating,

deceit, perjury, etc ; the other so blinding and stultifying man as to make him hoard up the riches he has acquired by just or unjust means and causing himself to suffer want and to refuse the necessities of life to those under his charge. To such persons the words of Solomon may be applied:— «There is another grievous evil which I have seen under the sun; riches kept to the hurt of the owner. . . . All the days of his life he eateth in darkness, and in misery and sorrow.» (Ecces., V. 12-16).

When man's conduct is such in the acquisition of earthly goods, in the possession or in the loss of them as to show that he prefers them to GOD and his salvation, he is guilty of the worst kind of avarice, and the words addressed to the rich man in the Gospel are applicable to him : «Thou fool, this night do they require of thee thy soul, and whose shall those things be which thou hast provided,» (Luke, XII.-20.) Again when a man neglects his religious duties, omits prayer and the public worship of GOD on Sundays and holidays, and transgresses the divine commandments without scruple when they interfere with his temporal interests, it is an unmistakable sign of his inordinate attachment to riches and his preference for them to those of eternity. «Where thy treasure is there also is thy heart.» (Matth., VI-21). In like manner when a person refuses to part with his riches to pay his lawful debts or to assist in relieving the poor and needy where charity demands it, he gives evident proof of sinful attachment to the goods of this world and merits the reproach contained in the words of St. John : «He that hath the substance of the world, and shall see his brother in need and shall shut up his bowels from him, how doth the charity of GOD reside in him,» (John, III-17). That covetousness and avarice are great evils is evident from many texts and examples of Holy Scripture : — «The ways of every covetous man destroy

the soul of the possessor,\* (Prov., I-19). And St. Paul says : « Know ye this and understand that no unclean or covetous person shall possess the kingdom of God,\* (1 Cor., VI-9, And in his first epistle to Timothy he says : « The desire of money is the root of all evils ; which some coveting have erred from the faith, and have entangled themselves in many sorrows,\* (1 Tim., VI-10). Avarice was the cause of hard-heartedness to the poor in the rich glutton ; of sacrilege for Heliodorus, ( 1 Marc., III ) ; of lying to the Holy Ghost in Ananias and Sapphira ; of the selling and betraying of Our Lord in Judas, etc.

*4th — Usury.* Usury is the gain obtained directly from a loan without a *legitimate title*. It may be looked upon as a robbery if open, or as a theft if not manifested but hidden under some pretext. Bishop Hay calls it « the taking of a recompense or a reward for the loan of money or other goods for consumption merely for the use of the thing lent where no *just cause* exists extrinsic to the loan itself. This reward or interest, if we choose to call it so, is usury and strictly forbidden 1 — by the *natural law* which, by commanding us to do to others as we would wish to have others do to us, prohibits lending for a reward ; 2 — by the *divine positive law*, as taught in innumerable passages of Holy Writ. « Take not usury of him, nor more than thou gavest : fear thy God that thy brother may live with thee. Thou shalt not give thy money upon usury, nor exact of him any increase of fruits,\* (Lev. XXV., 36.) « If thou lend money to any of my people that is poor . . . thou shalt not be hard upon him as an extortioner, nor oppress him with usuries,\* (Exod., XXII-25.) « Lend, hoping for nothing thereby,\* ( Luke, VI-25.3) — by the *law of the Church* as shown in the decrees of different Councils and the decisions of the Roman Congregations.

We have said above that usury or interest is an unlawful gain when there is no just cause or legitimate title for it,

because it is admitted to-day that where such grounds do exist a moderate interest is lawful. These grounds are : 1st, the law of the State ; 2nd, the damage sustained ; 3rd, the gain we lose, and 4th the risk we run in lending money. Father Muller, the learned Redemptorist, in treating of this subject, says : « It is lawful to take interest for a loan when the lender runs the risk of losing the sum lent, and may be put to expense in the recovery of it : for, as St. Liguori says, (de Sept. Decalogi Præcepto) a *certain* sum is more valuable than a *doubtful* sum. » This is confirmed by the decision of the Council of Lateran, Sess. 10, and by a declaration of the S. Congregation de Propaganda Fide, confirmed by Innocent X. in which it is declared that we may receive interest for a loan on the ground that there is a probable risk that the loan may be lost. It is lawful also to derive profit from monies put into legal public funds, societies or companies, for in all these cases we retain the dominion of such monies ; whereas when we lend money we voluntarily strip ourselves of that dominion and retain only the right to exact what we lent. To the borrower belong the profits arising from the loan, as to him also belongs the loss if any be sustained either in capital or profit.

The simple reason then why the damage we sustain, the gain we lose or the risk we run in lending money, justifies us in taking interest, is because it is but just that he who causes any damage should repair it, and that our own good will in lending should not be made prejudicial to ourselves, (St. Thom. II 2. Q. 78. A. 1.), and a probable risk is a probable loss for which we should receive compensation. It is now the general opinion of theologians, that if none of these reasons exist, a moderate interest allowed by custom and the law of the country may be taken with a safe conscience as long as the Church does not teach the contrary.

The rate of interest which may be lawfully taken is

in proportion to the risk incurred. But if it is more than just and fair compensation, or if, when no such risk exists, it is more than is allowed by the general practice and the laws of the country, we have no just claim to the excess. One of the most distinguished English jurists says: "If the compensation allowed by the law does not exceed the proportion of the hazard run, or the want felt, by the loan, its allowance is neither repugnant to the revealed nor the natural law." (Blackstone).

## 2ND THE POSITIVE OR MANDATORY PART. —*Restitution.*

The Seventh Commandment obliges us not only not to commit acts of injustice, but it commands us to make restitution, that is, to give back to the owner the goods that belong to him either in kind or in value, and to repair the unjust loss that he has sustained.

When injustice is committed by several persons together, he who is in possession of the things stolen is first bound to make restitution; should he fail to do so the obligation falls upon all the other accomplices. If the stolen property be divided among the accomplices, each one is bound to give back to the owner the part he has received; and if all refuse to make restitution, each individual is obliged to repair the whole loss. Should some make restitution and others refuse or be unable to restore their portion, the others are bound to make restitution for them. If one of the accomplices has restored the entire amount and repaired the damage done, then the others are no longer under obligation to the person whose goods they stole or injured, but they are obliged to compensate the one who has restored the full amount. Again if any one should commit an act of injustice but does not foresee in any way all the serious consequences of such an act, he is only bound in conscience to make restitution in so far as he is guilty before God, that is, he is answerable only for the



extent of the damage in so far as he could foresee it at the time he committed the unjust act. This last remark applies only to the obligation of conscience, and does not in any way exempt the culprit from the consequences of the civil law whose decisions he is obliged to respect.

All those, who by advice, encouragement or help, concur in acts of injustice, are bound, after the person who commits the theft, to see that the injured party be indemnified for his loss. Those who having it in their power to prevent theft and do not do so those who know that thefts are being committed and are silent on the subject, are all bound to make restitution, for by such conduct they become accomplices in the injustice done. All should know that unless restitution be made, where it is possible, the sin of theft can never be forgiven. There is only one reason that can excuse from restitution and that is impossibility or extreme poverty.

To the law of nature impressed on the heart of every man from the beginning, God added His positive law to restore ill-gotten goods and repair the damage done to another. This positive law is binding so strictly in conscience upon all men that neither priest, nor bishop, nor Pope can free us from it unless restitution be made. This is why it has always been the practice of the Church to refuse absolution and the sacraments to the different classes guilty of the injustices, we have hitherto mentioned. St. Augustin says: « When there is no will to make restitution there is no pardon. » And St. Thomas affirms that « in order to obtain forgiveness we must observe the law of equity ; and therefore we must restore, if we possibly can, that which we have unjustly taken. » We may strike our breasts and call upon God for forgiveness : we may confess with hypocritical sorrow and with tears in our eyes, still all this will be of no avail for the obtaining of pardon — indeed it will only be a mockery, — if we still retain unjustly the property of our neigh-

bor. « Whosoever shall deny to his neighbor the things delivered to his keeping, which was committed to his trust, or shall by force extort anything, or commit oppression; or shall find a thing lost, and, denying it, shall also swear falsely, or shall do any other of the many things wherein men are wont to sin; being convicted of the offense, he shall restore all that he would have gotten by the fraud, in the principal, and the fifth part besides to the owner whom he wronged. » (Lev., VI, 2.) « If men quarrel, and one strike his neighbor with a stone or with his fist, and he die not, but keepeth his bed; if he rise again and walk abroad upon his staff, he that struck him shall be quit, yet so that he make restitution for his work and for his expenses upon the physicians, » (Exod., XXI-18.) « If any man hurt a field or a vineyard, and put in his beast to feed upon that which is other men's, he shall restore the best of whatsoever he hath in his own field or in his vineyard according to the estimation of the damage. » (Exod., XXII-5.)

The Seventh Commandment also implies an obligation to sympathize with the poor and needy and to relieve them as far as we are able in their distress and difficulties from the means with which God has blessed us, and to show them in all things that fraternal kindness which true christian charity dictates. Alms-deeds are especially blessed by Almighty God. « Give and it shall be given to you; good measure and pressed down; and shaken together and running over shall they give into your bosom.... For with the same measure that you shall mete withal, it shall be measured to you again, » (St. Luke, VII-38.) To inspire us in the performance of our duty in this respect we should frequently call to mind and dwell on the final retribution the Judge of the living and the dead will pronounce on the last day. To those on His left: « Depart from me... for I was hungry and you gave me not to eat... thirsty and you gave me not to drink, naked and you covered me not. » To those on His right: « Come

ye blessed of My Father, possess the kingdom prepared for you. . . for I was hungry and you gave me to eat, thirsty and you gave me to drink, naked and you covered me, sick and you visited me.» And the just answered Him saying: « Lord, when did we see thee hungry and thirsty and naked and sick ? » And the Lord said: « Amen I say to you as long as you did it to one of these my least brethren you did it to me. » (Matth., XXV-35.)

By virtue of faculties received from the Holy See We grant the same dispensations in the Lenten Fast and Abstinence as last year: the rules therefore will be the same.

This Pastoral Letter shall be read in every church of the Diocese on the first Sunday after its reception that the Pastor shall officiate therein.

† THOS-F. BARRY,

Bishop of Chatham.

Chatham, N. B., February 11th, 1911.

Feast of the Apparition of Our Lady at Lourdes.

LOUIS O'LEARY,

Secretary.

# LETTRE PASTORALE

DE

SA GRANDEUR MONSEIGNEUR THOS-F. BARRY,  
EVÊQUE DE CHATHAM

---

THOMAS-FRANÇOIS, PAR LA MISÉRICORDE DE DIEU  
ET LA GRACE DU SAINT-SIÈGE APOSTOLIQUE  
EVÊQUE DE CHATHAM.

*Au clergé séculier et régulier, aux Membres des  
Communautés religieuses et aux Fidèles du Diocèse  
de Chatham, Salut et Bénédiction en Notre-Seigneur.*

« VOUS NE DÉROBEREZ POINT. » — (Exod., XX, 15).

« VOUS NE DÉSIREREZ POINT LA MAISON DE VOTRE PRO-  
CHAIN... NI AUCUNE DE TOUTES LES CHOSES QUI LUI APPAR-  
TIENNENT. » (Exod., XX, 17).

NOS TRÈS CHERS FRÈRES,

Comme Nous l'avons démontré dans nos précédentes Lettres Pastorales, la fin du cinquième commandement est de protéger la vie de l'homme contre tout attentat injuste, et le but du sixième et du neuvième est de sauvegarder son honneur et celui de sa famille. Dieu étend sa bonté et sa sollici-

tude en faveur de l'homme jusqu'à vouloir lui assurer la juste possession des biens temporels en ordonnant qu'on ne lui fasse aucune injustice. De là le septième et le dixième Commandement : « Vous ne déroberez point » (Exod., XX, 15), et « Vous ne désirerez point la maison de votre prochain... ni aucune de toutes les choses qui lui appartiennent » (Exod., XX, 17).

Ces deux Commandements nous apprennent que Dieu ne se contente pas de la seule justice extérieure, mais qu'il veut également et impérieusement la droiture et l'honnêteté du cœur et de la volonté. Il ne nous est pas plus permis de désirer l'injustice que de la commettre. « Faites aux hommes tout ce que vous voulez qu'ils vous fassent » (Math., VII, 12); « Ce que vous voulez que les hommes fassent pour vous, faites-le pareillement pour eux » (Luc, VI, 31), et « Prenez garde de ne faire jamais à un autre ce que vous seriez fâché qu'on vous fit » (Tobie, IV, 16). Il est facile, d'après ces règles divinement précieuses, de discerner quand nous sommes justes ou injustes à l'égard de notre prochain.

Le septième et le dixième Commandements ayant donc une même fin, nous pouvons en faire le sujet d'une même étude, et on peut les diviser, comme les autres préceptes du Décalogue, en deux parties distinctes : la partie prohibitive ou ce qui est expressément défendu par les deux Commandements, et la partie positive ou ce qu'ils ordonnent implicitement.

## I. PARTIE PROHIBITIVE.

Le septième et le dixième Commandements forment un sujet d'enseignement si vaste et renferment des cas si multiples et si variés que Nous sommes forcé de laisser de côté certains points et d'abrégé les autres en les condensant, pour ne pas sortir des limites d'une courte Lettre Pastorale. Nous ne traiterons donc que des violations les plus ordinaires de

ces deux Préceptes, c'est-à-dire du vol, de la rapine, de la convoitise et de l'usure.

1° Le vol. — « Par vol, dit le Catéchisme du Concile de Trente, on entend non seulement ce que l'on dérobe en cachette du maître et sans son consentement, mais encore ce que l'on prend malgré lui et à sa connaissance. » Selon la définition du savant et pieux Evêque Hay, le vol, dans son sens le plus strict, est le fait « de prendre ou de retenir le bien du prochain à l'encontre de sa volonté et par fraude secrète. » Par fraude secrète on entend ces moyens détournés de s'emparer du bien d'autrui et qui sont de dérober, de tricher, de tromper ou d'abuser de la bonne foi ou de la naïve simplicité de celui que l'on fraude.

Le vol peut être public ou privé. Il est public quand on prend ce qui appartient à l'Etat ou ce qui est de son domaine. Ceux qui dépensent mal à propos les fonds publics ou qui les emploient à leur profit personnel ou à celui de leurs amis sont coupables de vol public, de même que les officiers de l'Etat qui ne tiennent pas un compte fidèle des recettes de leur office ou qui se font payer de fausses dépenses. Sont également coupables d'injustice et de vol public : les témoins qui, par de fausses dépositions ou en ne disant pas toute la vérité, causent des dommages aux plaideurs ; les hommes de professions qui négligent les intérêts de leurs clients et leur causent par là des torts ou des pertes ; ceux qui profitent malhonnêtement de certaines dispositions des lois pour s'emparer du bien d'autrui ou en garder la possession ; les officiers civils ou les agents d'administrations qui favorisent malhonnêtement ceux dont ils ont accepté des faveurs.

Certains moralistes rangent parmi les voleurs publics ceux qui fraudent les ouvriers dans leur salaire, ce qui est une injustice grave ; car il est écrit : « Sachez que le salaire que vous faites perdre aux ouvriers qui ont fait la récolte de vos champs crie contre vous, et que leurs cris sont montés jus-

qu'aux oreilles du Seigneur des armées » (Jac., V, 4). Il est également répréhensible de différer sans nécessité le paiement du salaire des ouvriers : « Vous ne refuserez point à l'indigent et au pauvre ce que vous lui devez ;... Mais vous lui rendrez le même jour le prix de son travail avant le coucher du soleil, parce qu'il est pauvre, et qu'il n'a que cela pour vivre, de peur qu'il ne crie contre vous au Seigneur, et qu'il ne vous soit imputé à péché » (Deut., XXIV, 14 & 15). « Lorsqu'un homme aura travaillé pour vous, payez-lui aussitôt ce qui lui est dû pour son travail, et que la récompense du mercenaire ne demeure jamais chez vous » (Tobie, IV, 15).

Le vol privé est celui d'homme à homme. Exposer d'une façon complète les voies et moyens par lesquels se commettent les vols privés serait trop long et même presque impossible. Nous ne ferons donc qu'une liste abrégée de ceux qui se livrent à ces pratiques injustes ; ce sont : (1) Les personnes qui dérobent aux riches pour donner aux pauvres sous le prétexte de faire l'aumône ou avec la prétention que ce qu'elles dérobent (argent ou autre chose) n'est d'aucune valeur aux riches qui n'en souffriront nullement et qui n'en deviendront pas plus pauvres, ce que le Catéchisme du Concile de Trente appelle une misérable et affreuse justification ; (2) les serviteurs qui gaspillent ou laissent se perdre ce qui appartient à leurs maîtres, qui volent ceux-ci à leur profit personnel ou à celui des autres, qui retiennent pour eux-mêmes le produit de la vente de choses appartenant aux patrons, ou qui faussent les prix de ce qu'ils ont acheté ou vendu et retiennent le surplus ; (3) les enfants qui prennent, contre la volonté et à l'insu de leurs parents, ce qui est à ceux-ci et le dépensent en frivolités et en plaisirs ; la Sainte Ecriture condamne sévèrement ce procédé des enfants : « Celui qui dérobe à son père et à sa mère et qui dit que ce n'est pas un péché, a part aux crimes des homicides » (Prov., XXVIII, 24) ; (4) les ouvriers qui ne donnent pas au service de celui

qui les emploie tout le temps pour lequel ils sont engagés et payés, qui font du mauvais ouvrage ou qui laissent se détruire ou gâter les choses que leurs patrons leur ont confiées ; (5) les marchands ou commerçants qui vendent leurs marchandises plus qu'elles ne valent ou qui en cachent les défauts, profitant illicitement de la simplicité, de l'ignorance ou du besoin des acheteurs ; (6) les acheteurs et les vendeurs qui se servent de faux poids et de fausses mesures, se rendant par là coupables d'une flagrante injustice qui est menacée, en maints passages de la Sainte Ecriture, de châtimens terribles : « Vous n'aurez point en réserve plusieurs poids, l'un plus fort et l'autre plus faible ; et il n'y aura pas dans votre maison une mesure plus grande et une plus petite. Vous n'aurez qu'un poids juste et véritable, et il n'y aura chez vous qu'une mesure qui sera la véritable, et toujours la même, afin que vous viviez longtem<sup>s</sup> sur la terre que le Seigneur votre Dieu vous aura donnée. Car le Seigneur votre Dieu a en abomination celui qui fait ces choses, et il a horreur de toute injustice » (Deut. XXV., 13, 14, 15 & 16). Et encore : « La balance trompeuse est en abomination devant le Seigneur ; le poids juste est selon sa volonté » (Prov., XI, 1) ; « Le double poids et la double mesure sont deux choses abominables devant Dieu » (Prov., XX, 10).

2° La rapine, pillage ou brigandage, est définie par le Révérendissime théologien déjà cité : « L'enlèvement ou la détention injustes du bien du prochain contre son gré ou par violence ouverte. » C'est dans les mêmes termes que le Catéchisme du Concile de Trente désigne cette espèce d'injustice. La rapine est donc une faute plus grave que le simple vol, puisque la personne frustrée de son bien souffre en plus d'un violent outrage. Il y a différens degrés de malice dans ce péché selon la gravité de l'extortion et les circonstances qui l'accompagnent. Sont coupables de rapine ceux qui oppriment les orphelins, les veuves et les pauvres, en profitant de leur faible condition pour réclamer d'eux des choses injustes. Les Saints



Livres nous montrent Dieu courroucé frappant de calamités de toute sorte ceux qui sont coupables d'un tel crime: « Ne touchez point aux bornes des petits, et n'entrez point dans le champ des orphelins, car celui qui est leur proche parent est puissant et il se rendra lui-même contre vous le défenseur de leur cause » (Prov., XXIII, 10 & 11).

« Le pain des indigents est la vie des pauvres ; celui qui le leur ôte est un homme de sang. Celui qui arrache à un homme le pain qu'il a gagné par son travail est comme celui qui assassine son prochain. Celui qui répand le sang et celui qui prive le mercenaire de sa récompense sont frères » ( Eccli., XXXIV, 25-27 ). Les voleurs de grands chemins, de même que ceux qui s'endettent chez les marchands ou ailleurs et qui ensuite refusent de payer ou diffèrent le paiement de leurs dettes jusqu'au point de faire tort à leurs créanciers, sont coupables de cette sorte d'injustice. Egalement coupables de rapine sont ceux qui abusent de leur autorité pour dépouiller les autres, comme fit Jézabel à Naboth dont elle ravit la vigne par violence ( 3 Rois, XXI), ou comme le riche de la parabole qui « avait un grand nombre de brebis et de bœufs » et qui, malgré cette richesse et pour traiter un visiteur ami, enleva à son voisin pauvre « l'unique petite brebis qu'il avait achetée et nourrie et qui avait crû dans sa maison au milieu de ses enfants » (2 Rois, XII).

L'on pèche par vol et par rapine non seulement en prenant ce qui appartient à autrui, mais encore en retenant le bien mal acquis ; ce qui peut arriver de différentes manières : (1) en refusant de rendre ce qui a été injustement ravi ou une chose conée ; (2) en tirant profit de défauts ou d'erreurs dans les comptes ; (3) en ne cherchant pas soigneusement le propriétaire d'objets trouvés ; (4) en gardant des choses reçues de bonne foi, mais dont on découvre ensuite la provenance irrégulière ; (5) en empêchant les autres, par de mauvais conseils, de restituer les biens volés. En un mot, sont coupables de vol

tous ceux qui encouragent ou aident les autres à voler, à filouter, à prendre de quelque malhonnête façon que ce soit et à garder injustement le bien du prochain.

Le péché d'injustice par vol public ou privé, par détournement ou pillage, est de sa nature une faute grave que Saint Paul met au nombre de celles qui excluent du Ciel : « Ne savez-vous pas, dit-il dans sa première épître aux Corinthiens, que les injustes ne seront point héritiers du royaume de Dieu ? ( 1 Cor., VI, 9 ). Les divers passages des Saintes Ecritures que Nous avons déjà cités montrent combien ce péché est contraire à la volonté de Dieu et à l'universelle loi de la charité qui nous défend de faire à notre prochain ce que nous ne voudrions pas qu'il nous fit à nous-mêmes. L'injustice est une violation des lois civiles qui sont faites pour le bien de la nation et pour l'heureuse gouverne de l'Etat. Il arrive souvent, toutefois, que le vol ne constitue pas un péché grave, car la gravité de la faute est proportionnée à la valeur de l'objet volé et du dommage causé. Il faut aussi considérer les circonstances de personnes, de temps et de lieu pour déterminer la gravité de la faute. Quelquefois un vol léger peut causer un grand tort et devenir alors un péché grave ; par exemple, voler une somme minime à une personne très pauvre, une veuve ou un orphelin, peut produire un sérieux dommage et de grands troubles. Faire de légers vols, répétés avec l'intention d'arriver à se procurer ainsi une somme importante, serait encore une faute grave. Voler une chose sacrée ou voler dans un lieu saint est un péché plus grand que le vol ordinaire parce qu'il comporte le crime du sacrilège.

*L'extrême nécessité* enlève la culpabilité du vol. Une personne réduite elle-même ou voyant son proche réduit à l'extrême nécessité peut, sans manquer à la justice, prendre ce qui est strictement nécessaire à elle-même ou à son voisin pour subvenir à leur pressant besoin. Mais alors les nécessiteux

font acte de juste sagesse en prenant l'avis de leur confesseur ou du moins de quelque personne éclairée.

3° La convoitise et l'avarice. Les commandements défendent d'avoir la volonté ou le désir de voler, aussi formellement que de commettre le vol en action : « Vous ne désirerez point la maison de votre prochain... ni aucune de toutes les choses qui lui appartiennent » (Exod., XX, 17). La loi par laquelle Dieu nous défend toute injustice envers notre prochain est une loi spirituelle s'adressant à l'âme qui est la source et le principe de toutes nos pensées et de tous nos désirs. « C'est du cœur, dit Notre-Seigneur, que viennent les mauvaises pensées, les larcins, les faux témoignages » (Math., XV, 19). La convoitise et l'avarice peuvent être appelées un désir ou un amour désordonné de l'argent ou des biens matériels, qui porte l'homme à en faire le but principal de son existence, à y chercher son bonheur et à s'en préoccuper constamment. Ce vice est de deux sortes : l'une qui pousse l'homme à convoiter le bien des autres jusqu'au point de lui faire adopter d'indignes moyens pour se les procurer, comme le mensonge, la fourberie, la fraude, le parjure, &c. ; l'autre qui aveugle et hébète son esclave jusqu'à lui faire entasser des richesses par tous les moyens, mauvais comme bons, et en même temps se réduire avec les siens à une vie de misères et de privations. C'est à l'avare qu'on peut surtout appliquer ces paroles de Salomon : « Il y a encore une autre maladie bien fâcheuse que j'ai vue sous le soleil : des richesses conservées avec soin pour le tourment de celui qui les possède... Tous les jours de sa vie il a mangé dans les ténèbres, dans un embarras de soins, dans la misère et dans le chagrin » (Eccl., V, 12 & 16).

Lorsqu'un homme, par son âpreté au gain, sa passion de posséder et son chagrin de perdre, en est rendu à préférer les biens de la terre à ceux du ciel et à Dieu lui-même, il est alors coupable de la pire espèce d'avarice, et on peut justement lui appliquer ces paroles adressées au riche de l'Evangile : « Insen-

sé que tu es, on va te redemander ton âme cette nuit même, et pour qui sera ce que tu as amassé ? » (Luc, XII, 20). De même, celui qui néglige ses devoirs de religion, la prière et la sanctification des Dimanches et des Fêtes, qui viole sans scrupule la loi divine quand elle nuit à ses intérêts purement temporels, celui-là prouve clairement son attachement déréglé aux richesses de la terre qu'il préfère évidemment à celles de l'éternité. « Où est votre trésor, là aussi est votre cœur » (Math., VI, 21).

Egalement, celui qui ne paye pas ses dettes ou qui refuse l'aumône au pauvre nécessiteux, de peur d'amoindrir son trésor, pèche par avarice et pour lui sont ces paroles de l'Apôtre Saint Jean : « Si quelqu'un a des biens de ce monde et que, voyant son frère en nécessité, il lui ferme ses entrailles, comment l'amour de Dieu demeurerait-il en lui ? » (I S. Jean, III, 17). Que la convoitise et l'avarice soient de grands maux, la Sainte Ecriture le démontre par de nombreux textes et de multiples exemples :

« Les voies de tous les avares perdent les âmes de ceux qui possèdent » (Prov., I, 19). « Ne vous y trompez pas, dit Saint Paul, ni les impudiques, ... ni les avares ne seront héritiers du royaume de Dieu » (I Cor., VI, 10). Le même Apôtre écrit dans sa première épître à son disciple Timothée : « L'amour des richesses est la racine de tous les maux ; et quelques-uns en étant possédés se sont égarés dans la foi et se sont embarrassés dans une infinité d'afflictions » (Tim., VI, 10). C'est l'avarice qui fut la cause de la dureté de cœur du mauvais riche envers le pauvre Lazare, du sacrilège d'Héliodore (I Machab., III, ) du mensonge au Saint-Esprit d'Ananie et de Saphire, et de la vente de Notre-Seigneur par le traître Judas, &c.

4° — L'usure est le gain directement perçu d'un prêt et sans titre légitime. L'usure ouverte ou manifeste tombe dans la catégorie de la rapine ; cachée ou voilée sous quelque pré-

texte, elle peut être classée avec le simple vol. D'après l'Evêque Hay, « l'usure est la perception d'une compensation ou d'un retour pour le prêt d'une somme d'argent ou de choses de consommation, en seule considération de l'usage de la chose prêtée et sans un juste motif qui doit être autre que le prêt lui-même. » Cette compensation ou cet intérêt, si on veut l'appeler ainsi, est l'usure qui est strictement défendue : 1°, par la loi naturelle qui, en nous commandant de faire aux autres ce que nous voulons qu'ils nous fassent, nous défend de prêter en vue d'un profit ; 2°, par la loi divine positive que nous trouvons promulguée en une infinité de passages de la Sainte Ecriture : « Ne prenez point d'intérêt de lui et ne tirez point de lui plus que vous ne lui avez donné. Craignez votre Dieu afin que votre frère puisse vivre chez vous. Vous ne lui donnerez point votre argent à usure et vous n'exigerez point de lui plus de grains que vous ne lui en aurez donné » (Lévit., XXV, 36 & 37) ; « Si vous prêtez de l'argent à ceux de mon peuple qui sont pauvres parmi vous, vous ne les presserez point comme un exacteur impitoyable et vous ne les accablerez point par des usures » (Exod., XXII, 25) ; « Prêtez sans en rien espérer » (Luc, VI, 35) ; 3°, par la loi de l'Eglise promulguée dans les décrets de plusieurs Conciles et les décisions des Congrégations Romaines.

Nous avons dit plus haut que l'usure ou l'intérêt est un gain illégitime, lorsqu'il n'y a aucun motif plausible qui y donne droit : car il est maintenant admis que lorsque tel juste motif existe, un intérêt raisonnable devient légitime. Les justes motifs d'exiger un intérêt sont : 1. La loi de l'Etat ; 2. le dommage subi ; 3. le gain perdu ; 4. le risque que court le prêteur. Le Père Muller, un savant Rédemptoriste, dit au cours d'un traité sur ce sujet : « Il est permis de retirer l'intérêt d'un prêt lorsque le prêteur court le risque de perdre ce qu'il prête ou d'avoir à faire des déboursés pour rentrer dans ses fonds ; car d'après Saint Liguori (du 7<sup>me</sup> Précepte du Décalogue), un montant certain vaut plus qu'une somme dou-

teuse. » Cet enseignement est conforme à une décision du Concile de Latran (Sess. 10), et à une déclaration de la S. Congrégation de la Propagande confirmée par Innocent X, et qui dit que l'on peut prêter à intérêt à cause du risque probable de perte. Il est aussi permis de retirer un bénéfice des argents déposés aux banques ou confiés à des sociétés ou compagnies, car alors ces argents restent la propriété du déposant ; tandis que celui qui prête se dépouille volontairement de cette propriété et ne retient que le droit de se faire rendre son prêt. A l'emprunteur reviennent les profits de l'emprunt et c'est lui qui souffre des pertes, s'il en arrive, soit du capital, soit des bénéfices.

La simple raison du dommage subi, du gain perdu ou du risque encouru justifie le prêteur à percevoir un intérêt parce qu'il n'est que juste que celui qui cause un dommage le répare et qu'un service rendu avec bienveillance ne soit pas préjudiciable à celui qui le rend (S. Thomas, II, 2. Q. 78, A. 1.) ; et un risque probable est une perte probable qui doit être compensée. L'opinion générale des théologiens modernes est que, même si aucune de ces raisons n'existe, l'on peut recevoir en toute sûreté de conscience un léger intérêt permis par la coutume et les lois du pays et non condamné par l'Eglise.

Le taux de l'intérêt qu'il est permis d'exiger est en proportion du risque encouru. Mais si l'intérêt excède une compensation juste et équitable, ou s'il est plus élevé que ce qui est permis par la pratique commune ou les lois du pays, et qu'il n'y ait aucun risque, le prêteur commet une injustice en recevant l'excédent. D'après l'un des plus distingués juristes Anglais : « Si la compensation permise par la loi civile n'excède pas la proportion du risque encouru ou de la privation causée par le prêt, elle peut être exigée sans violation de la loi révélée ou de la loi naturelle » (Blackstone).

## II. — PARTIE POSITIVE. — RESTITUTION

Le septième Commandement nous prescrit non seulement de ne pas commettre d'injustices, mais nous ordonne encore de restituer, c'est-à-dire de rendre à leur propriétaire, en espèce ou en valeur, les biens qui lui appartiennent, et de réparer le dommage que nous lui avons causé.

Quand un vol a été commis par plusieurs à la fois, celui qui détient les objets volés est le premier tenu de restituer; mais s'il y manque, l'obligation tombe sur ses complices. Si le fruit du vol a été partagé entre les compagnons, chacun doit rendre la part reçue, et la réparation du dommage entier devient même obligatoire pour chaque individu, quand les autres ne veulent pas restituer. Si quelques-uns restituent et que les autres refusent de rendre leur part ou en sont incapables la restitution entière retombe sur les premiers. Quand l'un des complices a réparé en entier le vol et tout dommage subséquent, les autres ne doivent plus rien à la personne volée, mais ils sont dans l'obligation de dédommager celui qui a fait la restitution entière. En outre, si quelqu'un commet une injustice et sans prévoir aucunement qu'elle aura des suites fâcheuses, celui-là n'est tenu en conscience qu'à réparer ce dont il est coupable devant Dieu, c'est-à-dire qu'il n'est responsable que du dommage qu'il a pu prévoir en faisant son acte injuste. Mais ceci ne s'applique qu'à l'obligation de conscience, et le coupable reste soumis aux conséquences des lois civiles dont il doit respecter les dispositions.

Tous ceux qui, par conseil, encouragement ou aide quelconque, coopèrent à un vol, sont tenus, après le voleur, d'assurer la réparation du dommage causé. Ceux qui n'empêchent pas un vol, quand ils le peuvent, et ceux qui savent que des voleurs sont à l'œuvre et n'en avertissent pas, tous ceux-là sont obligés de restituer, car ils deviennent les complices des malfaiteurs. Personne ne doit ignorer que le péché d'injustice

ne peut être pardonné à moins qu'il n'y ait réparation ou restitution, et l'on ne peut être dispensé de cette obligation que par l'impossibilité ou l'extrême pauvreté.

A la loi naturelle imprimée dès le commencement dans le cœur de tout homme, Dieu a ajouté sa loi positive prescrivant de rendre les biens mal acquis et de réparer les dommages faits au prochain. Cette loi positive lie si strictement la conscience de tout homme que ni le prêtre, ni l'évêque, ni même le Pape ne peuvent dispenser de l'obligation de restituer. De là la pratique constante de l'Eglise de refuser l'absolution et les sacrements à tous ceux qui se sont rendus coupables des injustices que Nous avons mentionnées au cours de cette Lettre. « Pas de pardon pour qui ne veut pas restituer, » dit saint Augustin. Et saint Thomas affirme que « pour être pardonné il faut observer la loi de l'équité ; et c'est pourquoi il faut rendre, si c'est absolument possible, ce que l'on a injustement acquis. » Nous pouvons nous frapper la poitrine et implorer la clémence de Dieu ; nous pouvons nous confesser avec une contrition feinte, même en versant des larmes apparentes, toutes ces doléances extérieures, qui ne sont que des moqueries, ne nous obtiendront jamais notre pardon si nous retenons injustement le bien de notre prochain. « L'homme qui aura péché en méprisant le Seigneur et en refusant à son prochain ce qui avait été commis à sa bonne foi, ou qui aura par violence ravi quelque chose, ou qui l'aura usurpé par fraude, ou qui ayant trouvé une chose qui était perdue le nie, et y ajoute encore un faux serment, ou qui aura fait quelque autre faute que les hommes ont accoutumé de commettre, cet homme étant convaincu de son péché rendra en son entier tout ce qu'il a voulu usurper injustement ; il donnera de plus une cinquième partie à celui qui en était le possesseur et à qui il avait voulu faire tort » (Lévit., VI, 2-5). « Si deux hommes se querellent, et que l'un frappe l'autre avec une pierre ou le poing, et que le blessé n'en meurt pas mais qu'il soit



obligé de garder le lit... Il se lève ensuite, et qu'il marche dehors s'appuyant sur son bâton celui qui l'avait blessé sera regardé comme innocent de sa mort ; mais il sera obligé de le dédommager pour le temps où il n'aura pu s'appliquer à son travail, et de lui rendre tout ce qu'il aura donné à ses médecins » (Exod., XXI, 18 & 19). « Si un homme fait quelque dégât dans un champ ou dans une vigne, en y laissant aller sa bête pour manger ce qui n'est pas à lui, il donnera ce qu'il aura de meilleur dans son champ ou dans sa vigne pour payer le dommage, selon l'estimation qui en sera faite » (Exod., XXII, 5).

Le septième Commandement de Dieu comporte aussi l'obligation de compatir à la misère des pauvres et des nécessiteux et de les soulager, selon nos moyens, dans leur peine et leur détresse, en leur faisant une part des biens dont Dieu nous a gratifiés, de leur témoigner enfin cette bienveillance fraternelle qui découle de la vraie charité chrétienne. L'aumône est spécialement agréable au Seigneur : « Donnez et l'on vous donnera ; l'on versera dans votre sein une bonne mesure, bien pressée et entassée qui se repandra par-dessus ; car on se servira envers vous de la même mesure dont vous serez servis » (Luc, VI, 38). Pour nous stimuler dans la pratique de ce devoir d'une bienfaisante charité, méditons fréquemment cette scène finale du monde présent où le Juge des vivants et des morts rendra à chacun selon ses œuvres. A ceux qui seront à sa gauche il dira : « Retirez-vous de moi... ; car j'ai eu faim et vous ne m'avez point donné à manger ; j'ai eu soif et vous ne m'avez point donné à boire ; j'ai été nu et vous ne m'avez point vêtu. » A ceux de sa droite il adressera ces paroles : « Venez, les bénis de mon Père, possédez le royaume qui vous a été préparé ;... car j'ai eu faim et vous m'avez donné à manger ; j'ai eu soif et vous m'avez donné à boire ; j'ai été nu et vous m'avez vêtu ; j'ai été malade et vous m'avez visité... Alors les justes lui répondront :

Seigneur, qu'il est-ce que nous vous avons vu avoir faim et soif, ... nu et malade' Et le Seigneur leur dira : Je vous le dis en vérité, autant de fois que vous avez fait ces choses à un des moindres de mes frères, c'est à moi que vous l'avez fait » (Math. XXV)

En vertu des facultés octroyées du Saint Siège, Nous accordons pour le jeûne et l'abstinence du Carême les mêmes dispenses que celles de l'année ordinaire. Règlement du Clergé de la ville de Chatham.

Cette Lettre Pastorale sera lue dans chaque église du Diocèse au premier office dominical et sera suivie après sa réception.

PARI  
Evêque de Chatham.

Chatham B., 7 février 1911.

Fête de l'Apparition de la Sainte Vierge à Lourdes.

IS O'LEARY,

secrétaire.

CHATHAM, N. B., May 10th, 1911

REVEREND FATHER,

In future we shall try to have a Retreat for the priests of the Diocese every two years. This year the Diocesan Retreat will open at the Sacred Heart College, Caraquet, on the 5th of July next, and will be conducted by one of the Eudist Fathers.

All the priests in charge of parishes or missions, as also their assistants, should be present at the Retreat unless dispensed therefrom by the Bishop for sickness or other grave reasons.

During the Retreat priests will be stationed at Grand Falls and St. Basil for the Counties of Victoria and Madawaska, Campbellton and Dalhousie for the County of Ristigouche, Tracadie, Caraquet and Bathurst for the County of Gloucester, Rogersville and St. Louis for the County of Kent, and Chatham, Newcastle and Blackville for the County of Northumberland. After the ordination of three new priests in June we may be able to place priests in other places.

At the close of the Retreat there will be a meeting of the Clergy to consider different matters relating to diocesan administration, especially the matter of the Cathedral debt and the appointment of Diocesan Consultors, who with the Ordinary of the Diocese will afterwards select Examiners and Parish-priest Consultors as directed by Our Holy Father,

Pope Pius X, in the Decree of the Sacred Consistorial Congregation, « Maxima Cura, » published on Aug. 20th, 1910.

If you have not already done so you are hereby requested to offer the Holy Sacrifice of the Mass for the repose of the soul of the late Pastor of St. Margarets, Rev. Terence Maguire, who died at the Hotel Dieu, Chatham, on December 26th last.

Recommending to your good prayers, and those of your faithful people, our Retreat and the regulation of the diocesan matters connected with it, I remain

Yours very truly in Xto,

† THOS-F. BARRY,

Bishop of Chatham.

## REPORT OF CONFERENCE

HELD AFTER RETREAT, AT CARAQUET, N. B.

JULY 10TH, 1911.

---

The Conference being called to order and duly opened by prayer, His Lordship, Bishop Barry, gave the following directions to the Rev. Clergy :

1. In every cemetery there should be a portion set aside for the burial of unbaptized infants, and in this part could be buried also adults who are refused christian burial. When it is possible to communicate with the Bishop, the Pastors should not take it upon themselves to refuse christian burial but should refer the matter to the Bishop or the Vicar General.

2. It might happen sometimes that His Lordship should receive a letter of complaint about a priest. As a rule he sends these letters to the priest in question and when he does so he wishes the priest to send them back. He is often obliged to write again and to ask for such letters and should not be so obliged in future. These letters are sent to the priests for their private information and not for the purpose of having the priests go immediately to the parties and inform them that the Bishop has forwarded their letters.

3. In all the missions which have a church, all the regular collections, — such as the African Mission, the Holy Land and the Episcopal Collections, — should be made each

year. In sending in the report of the collections mention should be made by the Pastor of the amount collected in each of his missions as this is one of the ways His Lordship has of judging of the importance of such missions.

4. Very often parties come to the Bishop for matrimonial dispensations stating that they have been sent by their Pastor but having no written word to that effect from the Pastor. His Lordship will not receive such persons, but will send them back to their Pastor, who should receive their explanations and give such in their letters to the Bishop. When the question is concerning one of the greater impediments the Pastor should state in the letter asking for a dispensation whether he is favorably inclined towards the granting of same or opposed to it, as the opinion of the Pastor is of value to the Bishop in his consideration of the case. The Pastors should not encourage the parties to write directly to the Bishop as their explanations are very imperfect, but should write themselves after obtaining full explanations from the parties.

5. A new Decree of the Congregation of The Sacraments in explanation of the « *Ne Temere* » marriage law, and bearing date of 6th March, 1911, directs :

(a) That the freedom of the parties be clearly ascertained and that the baptismal certificate of parties baptized in another parish must be exacted.

(b) In notifying the Pastors in whose parishes either of the parties has been baptized such notification should contain the names and surnames of the contracting parties and of their parents, the age of the contracting parties, the day and place of the marriage, the names and surnames of the witnesses, and must be subscribed by the Pastor and sealed with the parochial seal. (In consequence each parish should have a parochial seal.)

(c) Should it happen that the Pastor who receives the notification finds out that one or other of the parties has been already married he must make the same known as soon as possible to the Pastor before whom the parties have tried to be married.

(d) The Ordinaries are directed to see that these instructions are carefully carried out and to bring transgressors back to their duty even by force of canonical punishment if necessary.

After the announcements by the Bishop, the recommendations of the priests for the two Diocesan Consultors to be nominated by them were taken. In consequence of his own choice of two Consultors and his choice from the nominations by the priests, His Lordship desires to announce that the four Diocesan Consultors are as follows: — Very Rev. Mgr Varrily, D. P., Revd J.-A. Babineau, J. Carter and S.-J. Doucet.

The matter of the Cathedral Debt was then brought by His Lordship before the Conference and he read a Decree from the Holy See, which was shown to the priests authorizing him to apportion the debt upon the various parishes *«pro rata et juxta numerum familiarum catholicarum»* and expressing a wish that the debt *«quamcitus dimittatur.»* After some discussion the following resolution was passed: — *«That the parishes outside of Chatham assume the debt of \$ 65,538.19 with interest thereon at 4% per annum from July 1st, 1911, and that this amount be paid within a reasonable time, on the condition that the parish of Chatham take as its share \$ 9999.11 with interest thereon at 4% per annum and that no call be made on the parishes of the Diocese outside of Chatham for the construction of the Bishop's Residence at Chatham.»* His Lordship explained that said Residence would cost fifty thousand dollars or more, including site for same.

Upon the question being asked as to the meaning of « a reasonable time » in the above motion, it was explained and agreed to that it means « according to the discretion of the Pastor in consultation with the Bishop, the outside limit being ten years. »

It was also understood that in making the apportionment « *pro rata familiarum* » the list called « Households » in the Census List published June 30th, 1910, should be used.

Having thanked the Rev. Clergy for the manner in which they had met the wishes of the Holy See and his own concerning the paying of the Cathedral Debt, His Lordship further requested the priests to be careful not to say that a marriage in contravention with the « *Ne Temere* » decree was civilly invalid as such marriages are valid in the eyes of the State, though invalid in the eyes of the Church. He also remarked that as Mgr. Varrily was Diocesan Director of the Apostleship of prayer, the Pastors seeking the erection of this confraternity in their parishes should address themselves to him and not outside the Diocese.

His Lordship wishes also that the priests send in their annual returns no later than January 1st, so that when the accounts are made up and published their names may appear.

By Order of the Bishop of Chatham.

CHATHAM, N. B., July 20th, 1911.

LOUIS O'LEARY,  
Secretary.



# Apportionment of Two-Thirds of Cathedral Debt

At rate of \$ 5.77 per household

| MISSION                 | Households | Amount    |
|-------------------------|------------|-----------|
| Acadieville.....        | 120        | \$ 692 40 |
| Balmoral.....           | 237        | 1367 49   |
| Barnaby River.....      | 73         | 421 1     |
| Baker Lake.....         | 139        | 802 03    |
| Bartibogue.....         | 81         | 467 37    |
| Bathurst (Town).....    | 360        | 2077 20   |
| Bathurst (Village)..... | 244        | 1407 88   |
| Belledune.....          | 151        | 871 27    |
| Blackville.....         | 105        | 605 85    |
| Boiestown.....          | 42         | 242 34    |
| Burnt Church.....       | 48         | 276 96    |
| Campbellton.....        | 395        | 2279 15   |
| Caraquet.....           | 550        | 3173 50   |
| Charlo.....             | 128        | 733 56    |
| Dalhousie.....          | 198        | 1142 46   |
| Drummond.....           | 223        | 1286 71   |
| Edmundston.....         | 294        | 1696 38   |
| Escuminac.....          | 181        | 1044 37   |
| Grand Anse.....         | 238        | 1373 26   |
| Grand Falls.....        | 275        | 1586 75   |
| Jacquet River.....      | 180        | 1038 60   |
| L'Amec.....             | 272        | 1569 44   |
| Loggieville.....        | 92         | 530 84    |
| Lower Caraquet.....     | 178        | 1027 06   |
| Miscou.....             | 157        | 905 89    |
| Nash's Creek.....       | 116        | 669 32    |
| Negunac.....            | 181        | 1044 37   |

|                                   |       |             |
|-----------------------------------|-------|-------------|
| Nelson.....                       | 161   | 928 97      |
| Newcastle.....                    | 315   | 1817 55     |
| Pacquetville.....                 | 228   | 1315 56     |
| Petit Rocher.....                 | 361   | 2082 97     |
| Pokemouche (Upper).....           | 305   | 1759 85     |
| Pokemouche (Lower).....           | 88    | 507 76      |
| Portage River.....                | 170   | 980 90      |
| Red Bank.....                     | 104   | 600 08      |
| Renous Bridge.....                | 137   | 790 49      |
| Richibucto.....                   | 118   | 680 86      |
| Rogersville.....                  | 450   | 2596 50     |
| Shannonvale.....                  | 69    | 398 13      |
| Shippegan.....                    | 176   | 1015 52     |
| St. Andrew.....                   | 162   | 934 74      |
| St. Ann.....                      | 267   | 1540 59     |
| St. Basil.....                    | 374   | 2157 08     |
| St. Charles.....                  | 165   | 952 05      |
| St. Francis Xavier.....           | 227   | 1309 79     |
| St. Francis of Assisi (Clair).... | 115   | 663 55      |
| St. Hilaire.....                  | 218   | 1257 86     |
| St. Ignatius.....                 | 75    | 432 75      |
| St. Isidore.....                  | 174   | 1003 98     |
| St. Jacques.....                  | 219   | 1263 63     |
| St. Leonard.....                  | 294   | 1696 38     |
| St. Louis.....                    | 172   | 992 44      |
| St. Theresa.....                  | 225   | 1298 25     |
| Tobique, Victoria Country....     | 57    | 328 89      |
| Tracadie.....                     | 561   | 3236 97     |
| Upper Bay du Vin(St.Margarets)    | 106   | 611 62      |
| Total.....                        | 11351 | \$ 65495 27 |

Chatham, July 20th, 1911.

By Order of the Bishop of Chatham,

LOUIS O'LEARY, Chancellor.

(Circular)

CHATHAM, N. B.,

August 19th, 1911.

REVEREND FATHER,

In compliance with the Decree « *Maxima Cura*, » and after consultation with the Diocesan Consultors appointed after the ecclesiastical Retreat at Caraquet in July last, We have chosen the following priests as Examiners and Parish-priest Consultors:

EXAMINERS:

Rev. Wilfrid Sormany, Rev. E.-P. Wallace, Rev. Felix Dugal.

PARISH-PRIEST CONSULTORS:

Rt Rev. Mgr Richard, D. P., Rev. M.-A. O'Keeffe, and  
Rev. John Wheten.

We would request the above mentioned Rev. Fathers to study carefully the Decree « *Maxima Cura* » in order to have a thorough and exact knowledge of its contents should a case arise which would require their services.

Yours very truly in Xto.

† THOS.-F. BARRY,

Bishop of Chatham.

## CHRISTMAS GREETINGS

---

Chatham, N. B., Dec. 18th, 1911.

REVEREND FATHER,

At the approach of Christmas-tide I feel this year especially bound to offer my best Christmas Greeting to the priests of the Diocese and to thank them anew for their devotedness in having accepted such a large share of the Cathedral debt at the Retreat in July last. I am happy to be able to inform them that a fair proportion of the amount assumed, viz: about \$14,000, has been already paid in to our Secretary. I cannot too earnestly commend and heartily appreciate the good will of those Pastors who have been so prompt in their remittances, thus saving the payment of interest which has been such a drag on our diocesan resources for a number of years past.

We are now trying to prepare, in consultation with the Diocesan Consultors, a set of pew regulations which will be applicable to all the parishes of the Diocese. Difficulties frequently arise among the parishioners regarding pews and it is very hard for the Ordinary of the Diocese to settle such difficulties partly on account of the different pew regulations existing in the different parishes. In a preliminary conference with the Diocesan Consultors and a few of the parochial clergy, we have agreed upon certain rules which would seem to embody all that is necessary on this subject; but before

finally adopting them we would wish to consult others of the older priests, and thus have sent copies of the regulations adopted at the conference to the Consultors for further consideration and consultation with their fellow-clergymen, as it is a matter upon which we consider it advisable to have the views of as many of the priests as possible. Copies of said regulations can be seen at the presbyteries of the Diocesan Consultors, and also at Mgr. Dugal's, Mgr. Allard's and Mgr. Richard's, any time up to the end of February next, when they will be returned to us for final approbation.

Praying the Divine Infant to bring us all, pastors and people and especially the sick and infirm amongst us, a large share of heavenly benediction on the great feast of Christmas ; and wishing all a very happy and holy New Year,

I remain,

Devotedly in Xto,

† THOMAS-F. BARRY,

Bishop of Chatham,

# PASTORAL LETTER

OF

THE RT. REV. THOS.-F. BARRY, D. D.,

BISHOP OF CHATHAM

THOMAS FRANCIS, BY THE GRACE OF GOD, AND FAVOR  
OF THE APOSTOLIC SEE, BISHOP OF CHATHAM.

*To the Clergy, Religious Orders and Faithful Laity of the  
Diocese, Health and Benediction in the Lord.*

• THOU SHALT NOT BEAR FALSE WITNESS AGAINST  
THY NEIGHBOR. • Exodus, XX, 16

DEARLY BELOVED,

The eighth Commandment has regard to truth in thought, word and deed. Its purpose is to teach us what we owe to truth, and our duty regarding the reputation of our neighbor.

Truth is a common good of mankind and to refuse it to anyone is to violate his right and do him a wrong. Every man has a right not to be deceived by falsehood. Truth is also a common good of society and the basis upon which are founded all mutual relations between its members; without truth there would be neither peace nor security, and society.

like an edifice without a foundation, could not exist. Truth is also one of the principal attributes of God, Who is essentially true, and we, his children, are obliged to imitate Him in this virtue and conform to Him in all things. Hence St. John calls liars the children of the Devil, (Gospel, St. John, VIII. 44), and in Proverbs we are told that « Lying lips are an abomination to the Lord,» (Prov., XII. 22).

In treating of the eighth Commandment we shall follow the same course as with the other commandments, viz: explain, 1st, the prohibitory part, and 2nd, the mandatory part.

#### 1st.— PROHIBITORY PART.

«Thou shalt not bear false witness against thy neighbor.» Here it must be well understood that our *neighbor* is, as the Catechism teaches us, mankind of every description who is in need of our assistance, without respect to race or religion, friendship or enmity, for we are all brothers in Christ our Lord. By *false witness* is meant all sorts of lies in word or deed injurious to our neighbor; we may also defame our neighbor by rash judgment and false suspicion in our own mind, and in the minds of others by detraction and calumny.

1st — *On defamation of our neighbor by lying.*— A lie, according to Bishop Hay, is « a contradiction of the truth either in word or in action.» St. Thomas defines a lie « a proposition manifested or expressed with intention to say what is false.” To lie, then, is to speak contrary to what we think for the purpose of deceiving another. Now, besides words, we can do this with a gesture, by writing and even by silence. In whatsoever way we do it we are guilty of falsehood, provided we act with the intention of making others believe what we do not ourselves believe; or in the words of St.

Augustin "having one thing in our mouth and another in our mind." There is then a lie in saying what is false if we believe it to be true.

Although the liar has generally the intention of deceiving and a lie is of its nature deceptive, nevertheless some theologians hold that the intention to deceive is not always essential to the culpability of falsehood. Billuart gives the following example: A man may commit a crime in the presence of the judge and afterwards deny it for fear of being condemned. Such a man is guilty of lying, says the same theologian, although he has not the intention of deceiving the judge.

2nd— *On different kinds of lies.*— The more ordinary are the following:

A *joyous lie*, which does not harm any one, but is spoken to please those that are present or for an excuse. Such is the lie of Sara when she said she "did not laugh." (Gen., Chap. 18.)

An *officious lie*, which injures no person at least seriously, and has for its object to render a service to ourselves or others, as the lie of the Egyptian midwives to Pharaoh spoken of in Exodus, I, 19.

A *malicious lie*, which offends God and is injurious to our neighbor. Such was the lie of Satan when he said to Eve, to induce her to eat of the forbidden fruit, "No, you shall not die the death." (Gen., III, 4). Such also was the lie of Herod when he requested the wise men to come back and inform him about the Child that he also might go and adore him.

*Dissimulation, pretence and tricks* may be considered



as lies when the object is bad and they are injurious to our neighbor; otherwise they may be looked upon as harmless and lawful and in many cases as legitimate means of defence against imposition or danger.

*Hypocrisy* is also a falsehood. It is the assuming of an outward appearance of justice and religion which do not exist in the heart. This was the particular vice of the Scribes and Pharisees for which Our Lord so often reproached them, saying that « the publican and the harlot would go into the Kingdom of God before them. » He compared them to « whitened sepulchres which outwardly appear to men beautiful, but within are full of dead men's bones and all filthiness. » (MATTH., XXIII, 27).

*Flattery* is also a species of lying by which one praises his neighbor for virtue or good qualities which in his heart he knows he does not possess. In many cases, however, delicate flattery is only an agreeable manner of giving pleasure to another and cannot come under the head of falsehood, when it does not exceed the limits of the truth.

*Boasting* is a falsehood when one goes beyond the limits of truth in praising himself and vainly attributing to himself good deeds which he has not performed.

A *promise* without the intention of keeping it is a direct falsehood.

All lies of their own nature are sinful because opposed to truth and consequently opposed to God, Who is essentially truth; they are also an injury to our neighbor because they deceive him. Theologians affirm that it is contrary to nature and to common sense to express in words things different from what we have in mind. Holy Scripture abounds with passages showing the enormity and terrible consequences of the vice of lying. « A lie is a foul blot in a man. » (Eccl., XX, 26.)

« The just shall hate a lying word. » (Prov., XIII, 5.) « The manners of lying men are without honor, and their confusion is with them without ceasing. » (Eccli., XX, 28.) In the Apocalypse St. John says that no liar can enter Heaven. (Apoc., XXI, 27.) « Without are dogs and sorcerers and murderers and every one that loveth and maketh a lie. » (Apoc., XXII, 15.) « A thief is better than a man that is always lying; but both of them shall inherit destruction. » (Eccli., XX, 27.) « All liars shall have their portion in the lake burning with fire and brimstone. » (Apoc., XXI, 8) « Thou wilt destroy all that speaketh a lie » (Ps., V, 7).

While the foregoing passages and many others which might be cited show us the grave culpability of lying, it would be erroneous to assert that all lies are equally sinful. A lie is a grievous sin when it is opposed to the virtues necessary to salvation, such as faith, hope, charity, justice and religion, and when it gives grave scandal, or causes great injury to our neighbor. Any falsehood confirmed by an oath is a mortal sin because it is solemnly calling God, the Author of all truth, to witness an untruth, which is blasphemy of the worst kind. Jocose or officious lies, although really sinful in themselves, because opposed to truth and expressly forbidden by the law of God, are, however, not mortal sins if no grave injury to our neighbor follows from them. Speaking of such lies the Council of Trent says that to deceive by jocose or officious lies, although neither useful nor injurious to anyone, is, notwithstanding, altogether unworthy of a Christian; and of this the Apostle admonishes us, when he says, « Putting away lying, speak ye of truth every man to his neighbor. » (Eph., IV, 25.) « This vile practice begets a strong tendency to frequent and serious lying, and from jocose, men contract a habit of uttering deliberate lies, lose all character for truth, and ultimately find it necessary, in order to gain belief, to recur to continual swearing. »

It may be asked, « Is it ever lawful to tell a lie which would be only a venial sin in order to procure some good end ? » And the answer is positively « No, it is never lawful to do a thing which in itself is even venially sinful that good may come from it. » In no imaginable circumstances can it be permitted to do what the law of nature and the positive law of God expressly forbid in all cases without exception. St. Paul says in his Epistle to the Romans (Chap. 3) that « we must not do evil that good may come from it. » And St. Augustine remarks that it is as wrong to tell a lie for our neighbor's advantage as it is to steal for the benefit of the poor. Not even to save one's own life, or the life of another, is a falsehood justifiable. « It is and always has been, » observes Bishop Hay, « the constant teaching of the Catholic Church that in no case and for no good end whatever, not even to save the world from destruction, can it ever be lawful to tell the least lie. » (Hay, Exp. 8th Com.) The pious and learned Allan Butler, in his introduction to the Lives of the Saints, says : « No good end can, on any account, excuse the least lie ; and to advance that pious frauds, as some improperly call them, can ever be properly used, is no better than blasphemy . . . . To tell any lie whatever, in the least point relating to religion, is always a lie in a matter of moment, and, as Catholic divines teach, can never be excused from a mortal sin . . . . Good men may sometimes be too credulous in things in which there appears no harm. Nay, sometimes the more averse a person is to fraud himself, the more unwilling he is to suspect imposture in others. But no good man can countenance and abet a known fraud for any purpose whatever. » St. Liguori quotes from the Bibliotheca of Pastors the following incident : « The Emperor Maximinian sent his officers to imprison St. Anthimus, Bishop of Nicodemia. The soldiers, who were in search of him, went by chance into the very house of the Saint and asked for something to eat. He treated them very kindly ; they asked him where they could

find Anthimus the Bishop: the Saint answered, 'Behold him, I am Anthimus.' The soldiers, through gratitude, said, 'We will not bring you to the Emperor; we will say that we have not been able to find you.' The Bishop answered, 'No, my children I do not wish you to be guilty of a lie. I am willing to die rather than advise you to tell a lie.' He then went with them to the Emperor to suffer martyrdom.

But do we not read in Scripture that the Egyptian midwives were rewarded for telling an officious lie to Pharaoh when they saved the children of the Israelites, and that some of the greatest servants of God told lies for some good purpose, as Jacob to gain his father's blessing, and Abraham, calling his wife his sister, to secure the friendship of the Egyptian King? We follow Dr. Hay again in his explanation of these passages of Holy Writ. «The Egyptian midwives were indeed rewarded by God, not for telling a lie to Pharaoh, but for their humanity in saving the children, and because, as the Scripture expressly says, «they feared God,» (Exodus, I, 21,) and refused to murder the innocent children, as the King had commanded for fear of offending God. As to the lies that seem to have been told by holy persons in Scripture, some of the Fathers have endeavored to free them from guilt by explaining their words in a mystical and parabolical sense; but though they told a real lie, this does not prove that certain lies are not sinful, but shows that even holy people are sometimes overcome, and do what is wrong, in which they are neither to be commended nor imitated. . . . We are not then obliged to strain the interpretation of certain texts to show that Jacob did not lie when he said he was the first-born and deceived his father; or that Abraham lied when he said his wife Sarah was his sister. It must be remarked also that according to the customs of the Jews, Sarah could have been called his sister as well as his wife»

3rd — *On mental reservation and equivocations.* — Are

these ways of expressing ourselves ever allowed? We must distinguish two kinds of mental reservation: — 1st, Mental reservation, *properly such*, is not lawful. It occurs when a person in his own mind puts a sense on his words contrary to, or different from their plain, natural and usual meaning, and which the hearers cannot possibly perceive or have no ground or occasion to suspect. Mental reservation and equivocation of this nature are lies, and therefore never allowed because they are always sinful and the Church has declared them altogether unlawful. If they are used when one is upon his oath they are perjury, which is never permitted for any end whatsoever, but especially when one is called upon by public authority to declare the truth. 2nd, Mental reservation and equivocation *not properly such*, take place when the words used have, either in themselves or from circumstances, two natural and plain significations, and the speaker uses them in one sense and the hearer takes them in another; or when they have both a literal and a spiritual meaning, as when Our Saviour said of St. John the Baptist, that « he was Elias,» and St. John himself said « I am not Elias,» or as when Christ said to His brethren, « Go you up to this festival day, but I go not up to this festival day,» . . . . « but after His brethren were gone up, then He also went up to the feast, not openly, but as it were in secret.» (St. John, VII, 10.) Mental restrictions and equivocations of this nature are not sinful and unlawful, for, if in such cases the hearers be deceived, it is their own fault and not a lie in the speaker.

4th — *On defamation of our neighbor.*— We may defame our neighbor either in our own mind by suspicious and rash judgment, or in the minds of others by detraction and calumny. We are guilty of these sins when we suppose evil in or neighbor without reasonable grounds, and this fault we become guilty of in various ways:— 1st, When at first sight, from a person's look we form a bad opinion of him.

2nd. When we attribute good or indifferent actions to bad intentions. 3rd. When we see a person commit a sinful action and immediately and without any other reason suppose him to be addicted to that sin. 4th. When we condemn a habitual sinner as a person abandoned by God, a reprobate who will never be converted. 5th. When we rashly judge our neighbor guilty of what he is accused of without hearing his defence. 6th. When from his past we judge of a person, or from the present we pronounce on his past or future state. 7th. When we attribute one's meekness and patience to cowardice, or one's religious actions or appearance to hypocrisy, etc. Such suspicions and rash judgments are uncharitable and sinful and frequently condemned in Holy Scripture. « Condemn not and you shall not be condemned. » (St. Luke, XXXV, 6-41.) Why seest thou the mote in thy brother's eye, but the beam that is in thy own thou considerest not » (St. Luke, VI, 41.) « I would rather err, » says St. Anselm, « by thinking good of a bad man, than by thinking evil of a good man. » Charity thinks not evil. Trust others if you would have others trust you, and leave judgment to God.

5th — *On detraction and calumny.* — In the minds of others we injure the character of our neighbor by detraction and calumny. Detraction consists in making known without necessity the real but secret faults of others. Detraction then is to make known to others our neighbor's faults that were not known before, and to make them known without sufficient cause. There may sometimes be reasons which make it lawful and even of obligation to speak of another's faults to those whose duty it is to correct them. Parents should, in charity, be admonished of the faults of their children, when such faults would become an occasion of sin for others. The same thing may be said of superiors of institutions for the education of youth. Again, if we know of some one whose influence is likely to become injurious to others, it is lawful

to warn them of the danger and in this there is no detraction. St. Thomas says « it is a sin to speak ill of others only when it is done to injure their character, and not when it is done to prevent sin or injury to others. » In such cases, however, the faults should be made known to those only who ought to be acquainted with them, such as parents, guardians and superiors. When we have no reason to believe that good will be effected by speaking of the faults of another, it is wrong for us to do so. In all cases we should not speak of the faults of others through uncharitableness or for a selfish motive.

To speak of the secret faults of our neighbor without sufficient cause or in a manner very injurious to his character is a grave fault, because a person retains his good name as long as the fault is hidden. It is at least a venial sin to speak without just cause of a person's public fault to one who knows nothing of it, and it would be a grave matter to reveal a sinful act which was once notorious but is now hidden, because the person who lost his good name has now regained it. There are few who have not committed faults at one time or another which are now entirely forgotten. Would such persons like to hear their faults recalled and made the subject of conversation ? Let him who is not guilty throw the first stone. We should never forget the golden rule, « Do to others as you would have others do to you. »

Detraction is one of the most common sins against charity because it can be committed in numberless ways. Some people are so addicted to this sin that when they have heard anything against their neighbor they are ill at ease until they have communicated it to others, and think they are very careful and charitable when they request the neighbor, who is as fond of talking as themselves, not to say anything about it. Others hearing their neighbor praised for some good which they cannot deny will add the poisonous remark : « He is not, nevertheless, the man the world takes

him to be ; for my part — but I will say nothing, for little said is easily mended... » Or they will shake their heads in disapproval, and, with a significant smile, add : « I could say something if I wished. » Others again will coincide with one praising the neighbor, but will surely accompany their praises with the words, « But it is a pity, nevertheless, that he is not more on his guard against or such a practice, » or « With all his good qualities I am sorry to learn that he is a slave to such or such habits. » Those who listen with pleasure to detraction are as guilty as the person who detracts in his words.

In the first chapter of his Epistle to the Romans, St. Paul says : « Detractors are hateful to God ; inventors of evil things ; without affection, without fidelity, without mercy . . . that they who do such things are worthy of death and not only they that do them, but they also that consent to them that do them. » ( Rom., I, 30, 31, 32 )

6th — *On tale-telling.* — Tale-telling is a sort of detraction which consists in repeating to another what some one has said unfavorably of him. This vice ruins the peace of families and is a fruitful source of countless evils. It is generally worse than ordinary detraction because it not only destroys the neighbor's reputation but puts an end to all friendly intercourse and brotherly love. Hence the inspired text says : « The whisperer and double-tongued is accursed, for he hath troubled many that were at peace. » ( Eccli., XXVIII, 15 ), and again, « The tale-teller shall defile his own soul and he shall be hated by all, and he that shall abide with him shall be hateful ; the silent and wise man shall be honored. » ( Eccli., XXI, 21, 31 ).

7th — *On back-biting.* — Back-biting is to speak with malicious pleasure of the known faults of our neighbor. It is sad to say, a very common sin among christian people. One



would suppose from the conduct of the greater number of them that no restraint of any kind was to be laid on the tongue regarding the neighbor's failings. One cannot converse with them for a few minutes without hearing something unfavorable to his fellow-man. Some take particular delight in watching the conduct of those who are not friendly to them, and when they see anything that is not correct, or that they with prejudiced mind think is not correct, they make it the subject of conversation among their acquaintances. It matters little to them what injury to another or what scandal may result from it. Oftentimes from back-biting children are induced to disrespect parents and superiors, — the flock, their pastors, — and subjects, their rulers. « If a serpent bite in silence, he is nothing better than back-biteth secretly. » ( Eccles., X, 11 ).

8th — *On calumny and slander.* — Calumny or slander is speaking ill of one's neighbor, knowing it to be false, or exaggerating his real faults. When calumny is made publicly it is called a *libel*. There is scarcely any crime so odious and so full of malice as that of ascribing crimes and guilt to an innocent person. The Jews slandered Our Lord saying that He was a Samaritan and that He had a devil. (St John. VIII, 48). Notwithstanding the enormity of this sin how often do we find people guilty of it, even those who otherwise would be considered religious? When difficulties arise between neighbors they calumniate each other in the most shocking manner, and charge each other with the most shameful acts. They are not content with calling each other the most injurious names, but they must accuse each other's ancestors, perhaps deceased long ago, with all kinds of crime and dishonesty. Listen to men or women scolding, and behold the debasing scene! No wonder that Holy Scripture speaks of such conduct with the greatest horror. « Their throat is an open sepulchre, with their tongues they have used deceit :

the poison of asps is under their lips: their mouth is full of cursing and bitterness.» (Rom., III, 13). In the matter of calumny or slander the rule we should invariably follow is that given by Ecclesiasticus: «Hast thou heard a word against thy neighbor? Let it die within thee, trusting that it will not hurt thee.» (Eccles., XIX, 10). Those who listen with pleasure to slander are as guilty as the slanderers themselves. St. Ignatius says we would not talk about our neighbor's faults did we not find eager listeners; and St. Bernard affirms that he cannot decide which is the more guilty, the man who slanders or he who lends his ear to the slanderer.

## 2nd — THE MANDATORY PART.

The eighth Commandment not only forbids lying and all cognate vices but it imposes on us the obligation of telling the truth. To tell the truth at all times and in all circumstances should be the fixed rule of every reasonable man. «Speak ye the truth,» says St. Paul, «every man with his neighbor; for we are members of one another.» (Eph., IV, 25). Be not deceived then by those who say, «how can I be expected to witness the truth when by so doing I shall endanger the character and reputation and perhaps the life of those who are nearest and dearest to me?» We should not speak thus, for God will not, under any circumstances, allow us to depart from the truth. «This commandment,» says the Council of Trent, «chiefly regards witnesses. It not only prohibits false but enforces the obligation of giving true evidence. In human affairs, to bear testimony to the truth is a matter of the highest importance, because there are innumerable things of which we must be ignorant, unless we arrive at a knowledge of them by the faith of witnesses. In matters with which we are personally acquainted, and which, however, we have occasion to know, what so important as true evidence? On this subject we have the recorded sentiments of St. Augustin: «He who conceals the truth, and he who utters

falsehood are both guilty ; the one because he is unwilling to render a service ; the other because he has the will to render a disservice.

We are not, however, at all times and under all circumstances obliged to disclose the truth ; but, when in a court of justice a witness is legally interrogated, he is bound to tell the whole truth. Here, however, witnesses should be most circumspect, lest trusting too much to their memory they affirm for certain what they have not fully ascertained.

To Judges the same Council gives the following directions. It says that the eighth Commandment requires that the innocent be not condemned ; nor the guilty acquitted ; and that he who is invested with judicial authority suffer not his judgment to be warped by interest, or biased by hatred or partiality. This is the admonition addressed by Moses to the Elders whom he had constituted judges of the people, « Judge that which is just, whether he be one of your country or a stranger. There shall be no difference of persons ; you shall hear the little as well as the great ; neither shall you respect any man's person, because it is the judgment of God. » ( Deut., I, 16 ).

To solicitors and counsel, to plaintiffs and defendants the Council continues its admonitions : The former will not refuse to contribute their services and assistance, when the necessities of others call for their interposition. In such circumstances humanity will prompt them to plead the cause of suffering innocence, and love of justice will prevent them from engaging in the defense of an unjust cause. They will not protract by cavils, or encourage through avarice, suits at law ; and as to remuneration, in that they will be regulated by the principles of justice and equity.

Plaintiffs and accusers are to be admonished to avoid creating danger to any one by unjust charges, yielding to the

influence of love or any other undue motive. Finally to all conscientious persons is addressed the divine command in all their intercourse with society, in every conversation, to speak the truth at all times, from the sincerity of their hearts ; to utter nothing injurious to the character of another, not even of those by whom they know they have been injured and persecuted, always recollecting that so near is the relation that subsists between them, so close the social link that binds them, that they are all members of the same body. »

Should we have injured our neighbor by any of the vices we have touched upon in the foregoing pages, we are obliged to make satisfaction according to the nature of the offence committed, and to do all that we can to restore his good name. If any one who wrongs his neighbor in his riches is bound to make restitution, how much more so he who destroys his good name unjustly, for « a good name is better than riches ? » Without such reparation the injury done by detraction and calumny cannot be absolved by a priest or pardoned by God Himself.

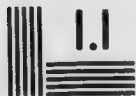
As an incitement to abstain from injuring in any way the good name of our neighbor, we should, on the one hand, consider the great severity with which God will judge the slanderer, « There is one Law-giver and Judge ; but who art thou that judgest thy neighbor. » (Jas., IV, 12). « With what measure you mete, it shall be measured to you again. » (Matt., VII, 2). « A man of evil tongue shall not be established in the earth, » ( Ps. 139, 12 ), and, on the other hand, the mercy He will show to those who have been merciful to others, « Judge not that you may not be judged. » (Matt., VII, 1). « Condemn not and you shall not be condemned. » ( Luke, VI, 37). We are all children of the same Father and heirs to His Kingdom where Charity reigns forever.

In this Pastoral Letter We terminate our course of



# MICROCOPY RESOLUTION TEST CHART

(ANSI and ISO TEST CHART No. 2)



**APPLIED IMAGE Inc**

1653 East Main Street  
Rochester, New York 14609 SA  
(716) 482-0300 - Phone  
(716) 288-5989 - Fax

instructions on the Ten Commandments. In the first three Commandments we are taught our duty of worship, fidelity, reverence and service to God, our Supreme Ruler and Master ; in the fourth our duty of love, honor and obedience to our parents, who are God's representatives on earth, and after Him our greatest benefactors ; in the remaining six are explained in detail our obligations towards ourselves and our neighbors.

With the help of God's grace and our faithful correspondence therewith it is not difficult to keep the Commandments. Hence St. Paul says, « I can do all things in Christ that strengtheneth me, » (Phil., IV, 13), and Christ assures us His followers that « His yoke is easy and His burden light. » (St. Mat., XI, 30.) « When God lays a command on thee, » says St. Augustin, « He requires thee to do all thou canst and in what thou canst not do to implore His help and He will enable thee to do it. »

You will follow the Lenten Regulations for last year unless notified to the contrary.

This Pastoral Letter shall be read in all the churches of the Diocese on the first Sunday after its reception that the Pastor shall officiate therein.

† THOS.-F. BARRY,

Bishop of Chatham.

Chatham, N. B., Feb. 13th, 1912.

Feast of the Commemoration of The Passion of Our Lord.

LOUIS O'LEARY, Secretary.

# LETTRE PASTORALE

DE

SA GRANDEUR MONSIEUR THOS.-F. BARRY,  
EVÊQUE DE CHATHAM.



THOMAS-FRANÇOIS, PAR LA MISÉRICORDE DE DIEU  
ET LA GRACE DU SAINT-SIÈGE APOSTOLIQUE,  
EVÊQUE DE CHATHAM

*Au clergé séculier et régulier, aux Communautés religieuses  
et aux fidèles du diocèse de Chatham*

*Salut et bénédiction en Notre-Seigneur.*

«VOUS NE PORTEREZ POINT DE FAUX TÉMOIGNAGE CONTRE  
VOTRE PROCHAIN. » — EXODE, XX, 16.

NOS TRÈS CHERS FRÈRES,

Le huitième commandement de Dieu a pour objet le respect de la vérité dans les pensées, les paroles et les actions; sa fin est de nous apprendre comment il nous faut traiter la vérité en général et quel est notre devoir relativement à la réputation de notre prochain.



La vérité est le bien commun de l'humanité, et la refuser à qui que ce soit constitue une violation de son droit et un dommage à son égard. Tout homme a le droit de ne pas être trompé par le mensonge. La vérité est également le bien commun de la société et la base sur laquelle s'appuient toutes les relations sociales. Il ne peut y avoir ni paix ni sécurité là où la vérité est méconnue, et la société, comme un édifice sans fondement, ne peut s'y maintenir. La vérité est aussi un des principaux attributs de Dieu qui est essentiellement vrai; et nous, ses enfants, nous devons lui ressembler en ce point comme en toute autre vertu. Notre divin Sauveur, dans l'évangile de saint Jean, appelle les menteurs les enfants du démon (Jean, VIII, 44), et il nous est dit au livre des Proverbes que «les lèvres menteuses sont en abomination au Seigneur.» (Prov., XII, 22).

En traitant du huitième commandement de Dieu, Nous suivrons la méthode adoptée dans nos instructions pastorales sur les autres préceptes du Décalogue; Nous expliquerons d'abord ce qui est défendu par ce commandement, puis, dans la seconde partie, nous exposerons ce qui y est prescrit.

## PREMIÈRE PARTIE

### CE QUI EST DÉFENDU PAR LE HUITIÈME COMMANDEMENT

«Vous ne porterez point de faux témoignage contre votre prochain.» Comprendons bien, tout d'abord, que sous le nom de *prochain* viennent tous les hommes qui ont besoin de notre assistance, quelles que soient leur nationalité ou leur croyance religieuse, et qu'ils soient nos amis ou nos ennemis; car nous sommes tous frères en Jésus-Christ Notre-Seigneur; tel est l'enseignement de notre catéchisme.

Par *faux témoignage* il faut entendre toute parole ou action mensongère pouvant causer du tort au prochain, à qui nous pouvons encore nuire en attaquant sa réputation, soit en

nous-mêmes par des jugements téméraires ou de faux soupçons, soit chez les autres par la médisance et la calomnie.

## I. DU TORT FAIT AU PROCHAIN PAR LE MENSONGE

Selon l'évêque Hay, «un mensonge est une parole ou une action contraire à la vérité. » Saint Thomas définit le mensonge: «Une proposition manifestée ou exprimée avec l'intention de dire ce qui est faux. » Mentir est donc parler contre sa pensée avec le dessein de tromper les autres; ce qui peut encore être fait par un geste, un écrit et même par le silence. On est coupable de mensonge, de quelque manière qu'on le commette, dès qu'on a l'intention de faire croire aux autres ce que l'on ne croit pas soi-même, ou que, d'après saint Augustin, « la bouche énonce une chose pendant que l'esprit en conçoit une autre. » C'est donc mentir que de dire même ce qui est vrai quand on le croit faux; et il n'y a pas de mensonge à affirmer ce qui est faux quand on le croit vrai.

Le menteur a généralement l'intention de tromper; cependant certains théologiens professent que l'intention d'induire en erreur n'est pas essentielle à la culpabilité de celui qui fausse la vérité, parce que le mensonge est de sa nature une tromperie. Billuart donne l'exemple suivant: «Un homme nie, en cour de justice, et par crainte de condamnation, un crime qu'il a commis en présence même du juge; cet homme, dit le théologien, est coupable de mensonge bien qu'il n'ait pas l'intention de tromper le juge. »

## II. DES DIFFÉRENTES ESPÈCES DE MENSONGE

Voici les plus ordinaires:

*Le mensonge joyeux* qui ne nuit à personne et qui n'est fait que pour amuser les personnes présentes ou pour s'excu-

ser. Tel est le mensonge de Sara disant qu'elle « n'a point ri » et que rapporte le 18<sup>e</sup> chapitre de la Genèse.

*Le mensonge officieux* qui ne cause aucune injustice, du moins sérieuse, et dont le motif est de rendre service à celui qui le profère ou aux autres. Tel est le mensonge des sages-femmes Egyptiennes à Pharaon, rapporté au 19<sup>e</sup> verset du 1<sup>er</sup> chapitre de l'Exode.

*Le mensonge malicieux* qui offense Dieu et fait injure au prochain. Tel fut le mensonge de Satan quand il dit à Eve, pour l'inciter à manger du fruit défendu: « Assurément vous ne mourrez point » (Gen., III, 4). Tel aussi fut le mensonge d'Hérode quand il pria les Mages de venir lui apprendre où ils auraient trouvé l'enfant afin qu'il pût aller l'adorer.

*La dissimulation, le prétexte et la fourberie* peuvent également être considérés comme des mensonges quand leur but est mauvais et qu'ils font tort au prochain; autrement on peut les regarder comme des moyens de légitime défense contre une menace ou un danger.

*L'hypocrisie* est aussi une tromperie puisqu'elle consiste à afficher des sentiments de justice ou de religion qui ne sont nullement dans l'âme. L'hypocrisie était le vice spécial que Notre-Seigneur reprochait si souvent aux Scribes et aux Pharisiens, leur disant que « le Publicain et la prostituée leur seraient préférés dans le royaume des cieux, » et les comparant à « des sépulchres blanchis qui au dehors paraissent beaux aux yeux des hommes, mais qui au dedans sont pleins d'ossements de morts et de toute sorte de pourriture » (Math., XXIII, 27).

*La flatterie ou adulation* est également une espèce de mensonge en tant que le flatteur félicite un autre de vertus et de qualités qu'il sait ne pas avoir. Il arrive pourtant assez souvent qu'une flatterie discrète n'est qu'une agréable façon de faire plaisir sans qu'elle tombe dans la fausseté, parce qu'elle reste dans les strictes limites du vrai.

*L'ostentation* devient un mensonge quand on exagère ses qualités personnelles ou qu'on s'attribue des mérites que l'on n'a pas.

*Les promesses* faites sans l'intention de les tenir sont de réelles faussetés.

Tout mensonge est, de sa nature, un péché parce qu'il est contraire à la vérité et conséquemment opposé à Dieu qui est la vérité par essence, et aussi parce qu'il est injurieux au prochain qu'il trompe. Les théologiens soutiennent qu'il est contraire à la nature et au sens commun d'exprimer par la parole des choses différentes de celles qu'on a dans l'esprit. La Sainte Ecriture est remplie de passages démontrant l'énormité du vice de mentir et ses terribles conséquences. «Le mensonge est dans un homme une tache honteuse » (Eccli., XX, 26). — «Le juste détestera la parole de mensonge » (Prov., XIII, 5). «La vie des menteurs est une vie sans honneur, et leur confusion les accompagne toujours » (Eccli., XX, 28). Dans son Apocalypse, saint Jean dit que nul menteur n'entrera dans le ciel. (Apoc., XXI, 27). «Dehors les chiens, les empoisonneurs, les homicides et quiconque aime et fait le mensonge » (Apoc., XXII, 15). — «Un voleur vaut mieux qu'un homme qui ment sans cesse; la perdition sera le partage de l'un et de l'autre » (Eccli., XX, 27). — «Tous les menteurs auront leur partage dans l'étang brûlant de feu et de soufre » (Apoc., XXI, 8). — «Vous perdrez tous ceux qui profèrent le mensonge. » (Ps., V, 7).

Bien que tous les textes que Nous venons de rapporter et beaucoup d'autres que Nous pourrions citer démontrent la grande culpabilité du mensonge, il serait faux d'affirmer que tous les mensonges sont également graves. Un mensonge est un péché grave quand il est contraire aux vertus nécessaires au salut, comme la foi, l'espérance, la charité, la justice et la religion, quand il est l'occasion d'un scandale sérieux, ou lorsqu'il fait une grande injure au prochain. Toute parole

fausse appuyée par le serment est un péché mortel, parce que Dieu, l'auteur de toute vérité, est solennellement appelé comme témoin d'un mensonge, ce qui est un blasphème de la pire espèce. — Les mensonges joyeux ou officieux sont réellement des péchés en eux-mêmes, parce qu'ils sont contraires à la vérité et formellement défendus par la loi divine; mais ils ne sont pas des fautes mortelles s'ils ne causent aucun tort grave au prochain. Voici ce que nous enseigne à ce sujet le Catéchisme du Concile de Trente: «Tromper, même par un mensonge joyeux ou officieux, erreore qu'il n'entraîne ni perte ni profit pour personne, \* une action tout à fait indigne. Voici ce que nous commande l'Apôtre: *Abjurant le mensonge, parlez selon la vérité*» (Eph., IV, 25). En effet ce mensonge nous mène fréquemment et par une pente rapide à d'autres bien plus considérables. Les mensonges joyeux donnent aux hommes cette habitude de mentir qui les fait passer pour n'être point véridiques, et qui par suite les oblige à jurer sans cesse pour faire croire à leur parole.

On peut se demander s'il est quelquefois permis de faire un mensonge en matière simplement vénielle pour obtenir un bien quelconque. La réponse positive est: non; il n'est jamais permis de faire une chose qui est par sa nature un péché, même simplement véniel, pour atteindre un bon but. Jamais, en aucune circonstance, il ne peut être légitime de faire ce qui est défendu expressément et sans aucune réserve par la loi naturelle et par un précepte divin positif. Au chapitre troisième de son épître aux Romains, saint Paul nous dit que l'on ne doit pas faire le mal pour qu'il en arrive du bien. Et saint Augustin soutient que mentir pour rendre service au prochain est aussi mal que voler pour secourir les pauvres. Il n'est pas permis de mentir, même pour sauver sa vie ou celle d'un autre. «L'Eglise Catholique, dit l'évêque Hay, enseigne et a toujours enseigné que le plus léger mensonge ne peut jamais être justifié par un motif quelconque,

« si excellent qu'il soit, fût-ce même celui de sauver le monde entier de la destruction » (Hay, Exposit. du 8<sup>e</sup> comm.). Voici ce que nous lisons dans l'Introduction à la vie des Saints du pieux et savant Alban Butler: « Nulle fin, si bonne qu'elle soit, et nul motif ne peuvent excuser le plus léger mensonge, et soutenir que les pieuses fraudes, comme on les appelle injustement, peuvent être quelquefois légitimes, est quelque chose qui ressemble au blasphème... Un mensonge, se rapportant d'une manière quelconque à la religion est toujours un mensonge en matière grave et, selon les théologiens catholiques, est toujours un péché mortel... Les bons sont quelquefois trop crédules dans les choses où leur candeur les empêche de voir du mal. Il arrive même que plus une personne a horreur de mentir, plus elle a de répugnance à soupçonner le mensonge chez les autres. Mais nulle bonne personne ne peut soutenir ou encourager une fraude pour quelque motif que ce soit. » Saint Alphonse de Liguori cite de la Bibliothèque des Pasteurs le fait suivant: « L'empereur Maximien envoya ses officiers pour se saisir de saint Anthime, évêque de Nicomédie, et l'emprisonner. Les soldats à sa recherche arrivèrent fortuitement à la propre demeure du Saint et lui demandèrent à manger, ce qu'il leur donna du plus grand cœur. Après leur repas, ils s'informèrent où ils pourraient trouver l'évêque Anthime, et le saint leur répondit: Le voici, je suis Anthime. Les soldats, par reconnaissance, lui dirent: Nous ne vous amènerons pas à l'empereur, et nous lui dirons que nous n'avons pu vous trouver. Alors l'évêque reprit: Non, mes enfants, je ne veux pas que vous vous rendiez coupables d'un mensonge; je mourrai plutôt que de vous conseiller de mentir. — Il les suivit alors chez l'empereur pour être martyrisé. »

Mais ne lisons-nous pas dans l'Écriture que les sages-femmes Égyptiennes furent récompensées pour avoir fait un mensonge officieux à Pharaon après avoir sauvé les enfants des Israél-

lites, et que, parmi les plus grands serviteurs de Dieu il y en a qui mentirent pour de bonnes raisons, comme Jacob pour avoir la bénédiction de son père, et Abraham disant que son épouse était sa sœur pour s'assurer les bonnes grâces du roi d'Egypte? Nous empruntons encore à l'évêque Hay l'explication de ces passages de la sainte Ecriture: «Les sages-femmes Egyptiennes furent, il est vrai, récompensées par Dieu, non pas cependant pour leur mensonge, mais pour leur acte de bienveillance en sauvant les enfants, et parce que, selon le propre témoignage de l'Ecriture: *elles craignaient Dieu* (Exode, I, 21); et c'est par crainte d'offenser le Seigneur qu'elles ne voulurent pas assassiner des enfants innocents, comme le roi le leur avait commandé. — Quant au mensonge que de saints personnages semblent avoir proférés et que l'Ecriture rapporte, certains Pères ont essayé d'en démontrer la légitimité en expliquant leurs paroles dans un sens mystique et parabolique. Le fait que ces personnages ont dit des mensonges réels ne prouve pas qu'il y ait des mensonges qui ne soient pas des péchés, mais démontre que même les personnes saintes s'oublient quelquefois et font ce qui est illicite; et en cela nous ne devons ni les louer ni les imiter... Nous ne sommes donc pas tenus de forcer l'interprétation de certains textes pour démontrer que Jacob n'a pas menti en disant qu'il était le premier-né et en trompant ainsi son père, ou que Abraham a fait un mensonge en présentant comme sa sœur son épouse Sara, puisque, selon la coutume juive, Sara pouvait être appelée la sœur aussi bien que l'épouse d'Abraham. »

### III. DE LA RESTRICTION MENTALE ET DES ÉQUIVOQUES

Pouvons-nous quelquefois nous servir de ces modes d'expression? La restriction mentale est de deux sortes. 1° La restriction *proprement mentale* n'est jamais permise. Elle a lieu quand une personne donne à ses expressions une forme qui change le sens de sa pensée et même la signification ordi-

naire des termes qu'elle emploie, de manière à tromper la bonne foi et la perspicacité des auditeurs. Telle restriction mentale et toute équivoque de ce genre sont des mensonges; elles ne peuvent donc jamais être permises puisqu'elles sont des péchés et que l'Eglise les a toujours condamnées. Si on les emploie sous serment, elles deviennent des parjures, ce qui ne peut jamais être légitime, sous quelque prétexte que ce soit, surtout à ceux que l'autorité publique appelle à faire connaître la vérité. 2<sup>o</sup> La restriction *improprement mentale* et l'équivoque de même espèce ont lieu lorsque les termes dont on se sert ont en eux-mêmes ou d'après les circonstances une double signification naturelle et apparente en sorte que la personne qui écoute peut les prendre dans un sens tout autre que celui qui est dans l'idée de la personne qui parle. Il y a encore restriction *improprement mentale* quand les expressions que l'on emploie ont deux significations différentes, l'une littérale et l'autre spirituelle. C'est ainsi que le Sauveur put dire de saint Jean-Baptiste qu'il était *Elie* et que saint Jean put répondre : *Je ne suis point Elie*. Le Christ put également dire à ses frères : « Quant à vous, allez à cette fête ; pour moi je n'y vais pas... mais lorsque ses frères furent partis, il alla aussi lui-même à la fête, non pas publiquement, mais comme s'il eût voulu se cacher (Jean, VII, 8-10). Les restrictions mentales et les équivoques de cette nature ne sont nullement des fautes et, si ceux à qui elles s'adressent sont déçus, ils n'ont à s'en prendre qu'à eux-mêmes et on ne leur a pas menti.

#### IV. DE LA DIFFAMATION DU PROCHAIN

On peut diffamer son prochain en soi-même par de mauvais soupçons et des jugements téméraires, ou chez les autres par la médisance et la calomnie.

1<sup>o</sup> Des *jugements téméraires*. On juge témérairement son prochain et on pèche quand on suppose le mal chez les autres



sans raison valable. Voici quelques-unes des différentes manières dont on se rend coupable de ce péché: 1° , quand, à première vue, sur un simple coup d'œil, on se forme une mauvaise opinion de quelqu'un; 2° , quand on attribue des actions bonnes ou indifférentes à de mauvais motifs; 3° , quand, à la connaissance d'une mauvaise action commise, on suppose immédiatement et gratuitement une habitude criminelle chez le coupable; 4° , quand on met au rang des délaissés de Dieu et des réprouvés qui ne se convertiront jamais un pécheur habituel; 5° , quand, sans entendre sa défense, on croit quelqu'un coupable de ce dont il est accusé; 6° , quand on estime présentement quelqu'un d'après son triste passé, ou qu'on augure de son passé et de son avenir par sa mauvaise conduite actuelle; 7° , quand on attribue la douceur et la patience d'une personne à la lâcheté ou ses actions et sa mine vertueuse à l'hypocrisie; etc..., etc... Ces soupçons, ces jugements téméraires sont contraires à la charité et sont des péchés condamnés en maints endroits de la sainte Écriture. «Ne condamnez point, et vous ne serez point condamnés » (Luc, VI, 37). — «Pourquoi voyez-vous une paille dans l'œil de votre frère, lorsque vous ne vous apercevez pas d'une poutre qui est dans votre œil? » (Luc, VI, 41). — «Je préfère me tromper, dit saint Anselme, en pensant bien d'un méchant qu'en pensant mal d'un homme de bien. » La charité ne suppose pas le mal. Ayez confiance dans les autres si vous voulez que les autres aient confiance en vous, et laissez à Dieu de juger.

2° *De la médisance.* Par la médisance comme par la calomnie on fait tort à la réputation du prochain dans l'estime des autres. La médisance est la révélation, sans nécessité, des fautes réelles, mais cachées, commises par les autres. C'est donc médire que de faire connaître, sans juste motif, les fautes encore inconnues du prochain. Il peut y avoir quelquefois des raisons qui rendent légitime et même obligatoire la manifestation des fautes des autres à ceux qui ont

autorité pour les corriger. Ainsi, en toute charité, on doit avertir les parents des défauts de leurs enfants quand on prévoit que ces défauts entraîneront les autres au mal. La même règle doit être observée à l'égard des supérieurs des institutions où l'on élève la jeunesse. Ce n'est pas non plus médire que d'avertir quelqu'un d'être sur ses gardes à l'égard de telle personne dont on sait que la société est dangereuse. D'après saint Thomas, «c'est un péché de parler mal du prochain seulement quand on le fait pour nuire à sa réputation, mais nullement lorsqu'on veut par là empêcher une faute ou dommage aux autres.» Toutefois, dans ces cas, il ne faut faire connaître les fautes ou les défauts qu'à ceux qui doivent en être informés, comme les parents, les tuteurs et les supérieurs. Quand il n'y a pas lieu de croire que la dénonciation produira du bien, il est mal de la faire. On ne doit jamais parler des défauts du prochain qu'avec charité et nullement pour des motifs de pur égoïsme.

Révéler les fautes secrètes des autres, sans raison suffisante ou de manière à nuire sérieusement à leur réputation, est un péché grave, puisque la bonne renommée leur reste aussi longtemps que leurs fautes restent ignorées. C'est au moins un péché véniel que de rapporter à une personne qui l'ignore une faute publique d'une autre et ce serait pécher en matière grave que de rapporter une faute autrefois connue, mais maintenant ignorée, parce que la réputation ci-devant perdue a été recouvrée. Nombreux sont ceux qui ont fait autrefois des chutes maintenant publiées et qui seraient peinés de voir leurs anciens misères tirées de l'oubli et défrayant les conversations. Que celui qui n'a jamais péché lance la première pierre. N'oublions jamais cette règle toute divine: «Faites aux autres ce que vous voulez que les autres vous fassent.»

La médisance est un des plus fréquents péchés contre la charité, parce qu'il revêt un nombre presque infini de variétés. Certaines personnes sont à ce point médisantes que, dès

qu'elles ont appris quelque chose de défavorable au prochain elles sont mal à l'aise jusqu'à ce qu'elles l'aient communiqué à d'autres, et elles se persuadent qu'elles ont été très discrètes et charitables parce qu'elles ont demandé le secret à des auditeurs aussi loquaces qu'elles-mêmes. D'autres, en entendant louer quelqu'un d'un bien qu'ils ne peuvent nier, lanceront la venimeuse remarque: «Pourtant, il n'est pas ce que l'on croit;... pour ma part...; mais je ne dis rien, car le peu que l'on dit est si facilement travesti. » — Ou bien, on secoue la tête en signe de désapprobation et l'on ajoute avec un sourire significatif: «Je pourrais dire quelque chose si je le voulais. » — D'autres aideront même à louer le prochain, mais ne manqueront pas d'agréments leurs compliments de paroles comme celles-ci: «Mais, il est tout de même regrettable que cette personne ne fasse pas plus attention à elle-même en telle et telle occasion, » ou bien: «Il me fait peine d'apprendre que malgré toutes ses bonnes qualités, cette personne est l'esclave de telle mauvaise habitude. » — Ceux qui s'amusent à écouter la médisance sont aussi coupables que les médisants eux-mêmes.

Au premier chapitre de son épître aux Romains, saint Paul écrit que «Les calomniateurs sont ennemis de Dieu, inventeurs de crimes, sans affection, sans foi, sans miséricorde, » et que «ceux qui font ces choses sont dignes de mort, et non-seulement ceux qui les font, mais aussi ceux qui approuvent ceux qui les font. » (Rom., I, 30, 31, 32).

3° *Des rapports.* Les rapports sont une espèce de médisance qui consiste à répéter ou rapporter à quelqu'un ce qu'un autre a dit contre lui. Cette pratique vicieuse ruine la paix des familles et produit des maux sans nombre. Ces rapports sont en général pires que la médisance ordinaire parce que, non-seulement ils détruisent la réputation du prochain, mais rendent impossible toute relation amicale et toute charité fraternelle. C'est au rapporteur que s'appliquent ces paroles des saints Livres: «Celui qui cherche les secrets et qui

a deux langues sera maudit parce qu'il jettera le trouble parmi plusieurs qui vivaient en paix » (Eccli., XXVIII, 15); et encore: «Le semeur de rapports souillera son âme, et il sera haï de tout le monde; et celui qui demeure avec lui sera odieux; mais l'homme sensé et ami du silence sera honoré, » (Eccli., XXI, 31).

4° *De la médisance haineuse.* La médisance haineuse est le fait de ceux qui prennent un malin plaisir à s'entretenir des fautes connues du prochain. Chose triste, ce vice est très commun parmi les chrétiens dont un trop grand nombre, par leur conduite, donnent à croire qu'ils ne savent mettre aucun frein à leur langue quand il s'agit des misères morales de leurs semblables. Impossible de converser avec eux pendant quelques instants sans qu'ils lancent quelques traits malicieux contre les absents. Il en est qui trouvent une certaine jouissance à épier la conduite de ceux qu'ils n'aiment pas et, dès qu'ils ont surpris quelque chose de fautif ou que leur jugement pervers apprécie comme tel, ils en font le sujet de leurs conversations avec leurs pareils. Peu leur importe le tort qu'ils font et le scandale qu'ils peuvent causer. C'est souvent en entendant ces médisances fielleuses, que les enfants apprennent à mépriser leurs parents, les fidèles leurs pasteurs, et les inférieurs leurs maîtres. «Celui qui médit en secret est comme un serpent qui mord sans faire de bruit » (Eccli., X, 11).

5° *De la calomnie.* Calomnier c'est dire faussement du mal de son prochain ou exagérer ses fautes réelles. La calomnie publique se nomme le libelle. Il y a peu de crimes aussi odieux et malicieux que celui d'attribuer des vices ou des fautes à ceux qui en sont innocents. Les Juifs calomnièrent Notre-Seigneur en l'accusant d'être Samaritain et possédé du démon (Jean, VIII, 48). Comment se fait-il qu'un péché si énorme soit pourtant si fréquent, même chez des personnes dont la vie est d'ailleurs religieuse? Une difficulté s'élève-t-elle entre voisins, voilà qu'ils lancent l'un contre l'autre les calomnies

les plus basses et les accusations les plus honteuses. Non contents de se donner mutuellement les noms les plus injurieux, ils vont jusqu'à charger les ancêtres, morts comme vifs, de fautes et de malhonnêtetés de toute sorte. Prêtez l'oreille aux hommes ou aux femmes en querelles et voyez quelles scènes humiliantes! Aussi en quels termes de profonde horreur les saints Livres censurent-ils les auteurs de ces désordres: « Leur gosier est un sépulcre ouvert; ils se sont servis de leur langue pour tromper avec adresse; ils ont sous leurs lèvres un venin d'aspic; leur bouche est remplie de malédiction et d'amertume (Rom., III, 13-14). En matière de calomnie il faudrait invariablement suivre la règle donnée par l'Ecclésiastique: « Avez-vous entendu une parole contre votre prochain? faites-la mourir dans vous, et assurez-vous qu'elle ne vous fera pas de mal » (Eccli., XIX, 10). — Ceux qui prêtent une oreille complaisante aux calomniateurs partagent leur culpabilité. Saint Ignace dit qu'il n'y aurait pas de détracteurs s'il n'y avait personne pour les écouter, et saint Bernard affirme qu'il ne saurait dire qui est le plus coupable ou de celui qui calomnie ou de celui qui l'écoute.

## DEUXIÈME PARTIE

### CE QUI EST ORDONNÉ PAR LE HUITIÈME COMMANDEMENT

Le huitième commandement non-seulement défend le mensonge et les péchés qui s'y rattachent, mais encore il impose l'obligation de dire la vérité. Dire toujours et partout ce qui est vrai, voilà quelle doit être la règle invariable de tout homme raisonnable. « Que chacun parle à son prochain dans la vérité, dit saint Paul, parce que nous sommes membres les uns des autres » (Eph., IV, 25). Ne vous laissez donc pas tromper par ceux qui disent: comment pouvons-nous dire ce qui est vrai quand, en parlant ainsi, nous risquons l'honneur, la réputation et peut-être la vie de ceux qui nous

sont liés par la parenté ou l'amitié? Ce raisonnement est faux, car Dieu ne permettra jamais qu'on s'éloigne de la vérité.

«Ce précepte, dit le Catéchisme du Concile de Trente, «regarde principalement les témoins. Le but du commandement n'est pas seulement de défendre le faux témoignage, mais encore de nous ordonner de dire la vérité. «Dans les affaires humaines, le témoignage véridique est «de la dernière importance; car il y a un nombre infini de «choses que nous serions condamnés à ignorer si nous ne «des connaissions sur la foi des témoins. Rien n'est donc «plus nécessaire que la vérité des témoignages dans ces «choses qu'il ne nous est ni donné de connaître par nous-mêmes, ni permis d'ignorer. Voici sur ce point le sentiment «de saint Augustin: *Celui qui tait la vérité et celui qui énonce un mensonge sont tous deux coupables: celui-là parce qu'il ne veut pas être utile et celui-ci parce qu'il cherche à nuire.* «— Il peut être permis quelquefois de taire la vérité, mais «c'est hors des tribunaux. Dans les cours de justice, dès «que le témoin est légitimement interrogé, il doit révéler «la vérité tout entière. Mais ici les témoins doivent bien «prendre garde que trop de confiance en leur mémoire ne leur «fasse affirmer comme certain ce dont ils ne sont pas sûrs. »

Aux juges le même Catéchisme du Concile de Trente donne les directions suivantes, toujours en rapport avec les obligations imposées par le huitième commandement: «Il ne «faut ni condamner les innocents et absoudre les coupables, «ni se laisser toucher par l'argent ou la faveur, par la haine «ou l'amitié. C'était la recommandation de Moïse aux «vieillards qu'il établissait juges du peuple: *Jugez selon «la justice le citoyen comme l'étranger; ne mettez point de «différence entre les individus; écoutez le petit comme le grand; «ne faites acception de personne: car c'est le jugement de Dieu* «(Deut., I, 16—).

Aux avocats et à leurs conseils, aux demandeurs et aux défenseurs la même autorité continue ses enseignements:

« Les premiers (les avocats) ne refuseront ni leurs services, « ni leur appui aux parties qui en auront besoin; ils protégeront généreusement les pauvres; ils ne se chargeront point de mauvaises causes; il ne prolongeront point les procès par chicane et ne les entretiendront point par avarice. Et pour les honoraires de leur occupation et de leur peine, ils les régleront sur le droit et l'équité.

« Il faut avertir aussi les demandeurs et les accusateurs « de ne point se laisser entraîner par l'affection, la haine ou « d'autres passions, à intenter jamais d'actions basées sur « des imputations iniques. Enfin c'est un ordre de Dieu à « toutes les personnes pieuses, d'être toujours vraies et sincères dans leurs entretiens et dans leurs discours, et de ne jamais rien dire qui puisse nuire à la considération de « personne, et même de ceux par qui elles croiront avoir « été offensées et inquiétées, ne perdant point de vue qu'il « y a entre eux tous des rapports et une union tels qu'ils « sont membres du même corps. »

Si on a fait tort au prochain par quelques-unes des fautes signalées dans tout ce qui précède, il faut de toute nécessité réparer selon la nature de l'offense commise. Si celui qui a causé quelque dommage à son semblable, dans ses biens matériels, est obligé de restituer, à plus forte raison sont tenus à une réparation complète ceux qui ont ruiné la réputation des autres, puisque *la bonne renommée vaut plus que les richesses*. Sans cette réparation, impossible d'avoir l'absolution du prêtre et le pardon de Dieu.

Pour nous exciter à nous abstenir de tout ce qui peut entacher la réputation de nos semblables, considérons d'abord la grande sévérité du divin Juge à l'égard des détracteurs:

« Il n'y a qu'un législateur et qu'un juge qui peut sauver et qui peut perdre, mais vous, qui êtes-vous pour juger le prochain? » (Jacq., IV, 12 et 13). — « L'on se servira envers vous de la même mesure dont vous vous serez servis » (Math., VII, 2); — « L'homme qui se laisse emporter par sa langue ne prospérera point sur la terre » (Ps. CXXXIX, 12); puis

rappelons-nous avec quelle bonté il traitera les miséricordieux:  
«Ne jugez point afin que vous ne soyez point jugés » (Math., VII, 1); — «Ne condamnez point et vous ne serez point condamnés » (Luc, VI, 37). Nous sommes tous les enfants du même Père et les héritiers de son royaume où la charité règne à jamais.

Avec la présente Lettre-Pastorale, Nous terminons le cours de nos instructions sur les préceptes du Décalogue. Les trois premiers commandements nous tracent nos devoirs d'adoration, de fidélité, de respect et d'obéissance envers Dieu, notre souverain Seigneur et Maître; le quatrième nous apprend ce que nous devons d'amour, d'honneur et de soumission à nos parents qui nous tiennent, sur la terre, la place de Dieu et sont, après lui, nos plus grands bienfaiteurs; les six autres nous détaillent nos différentes obligations à l'égard de notre prochain et envers nous-mêmes.

Avec la grâce de Dieu et notre fidélité à y coopérer, nous pouvons facilement observer les commandements. Saint Paul nous dit: «Je puis tout en celui qui me fortifie » (Philipp. IV, 13), et le Sauveur affirme à ceux qui veulent le suivre que «son joug est doux et son fardeau léger » (Math., XI, 30). «Quand Dieu vous impose une obligation, dit saint Augustin, il veut que vous fassiez tout ce qui vous est possible et que vous imploriez son aide pour ce qui est au-dessus de vos forces; avec son assistance qui vous est assurée, vous ferez tout. »

A moins d'avis contraire vous suivrez pour le carême les règlements des dernières années.

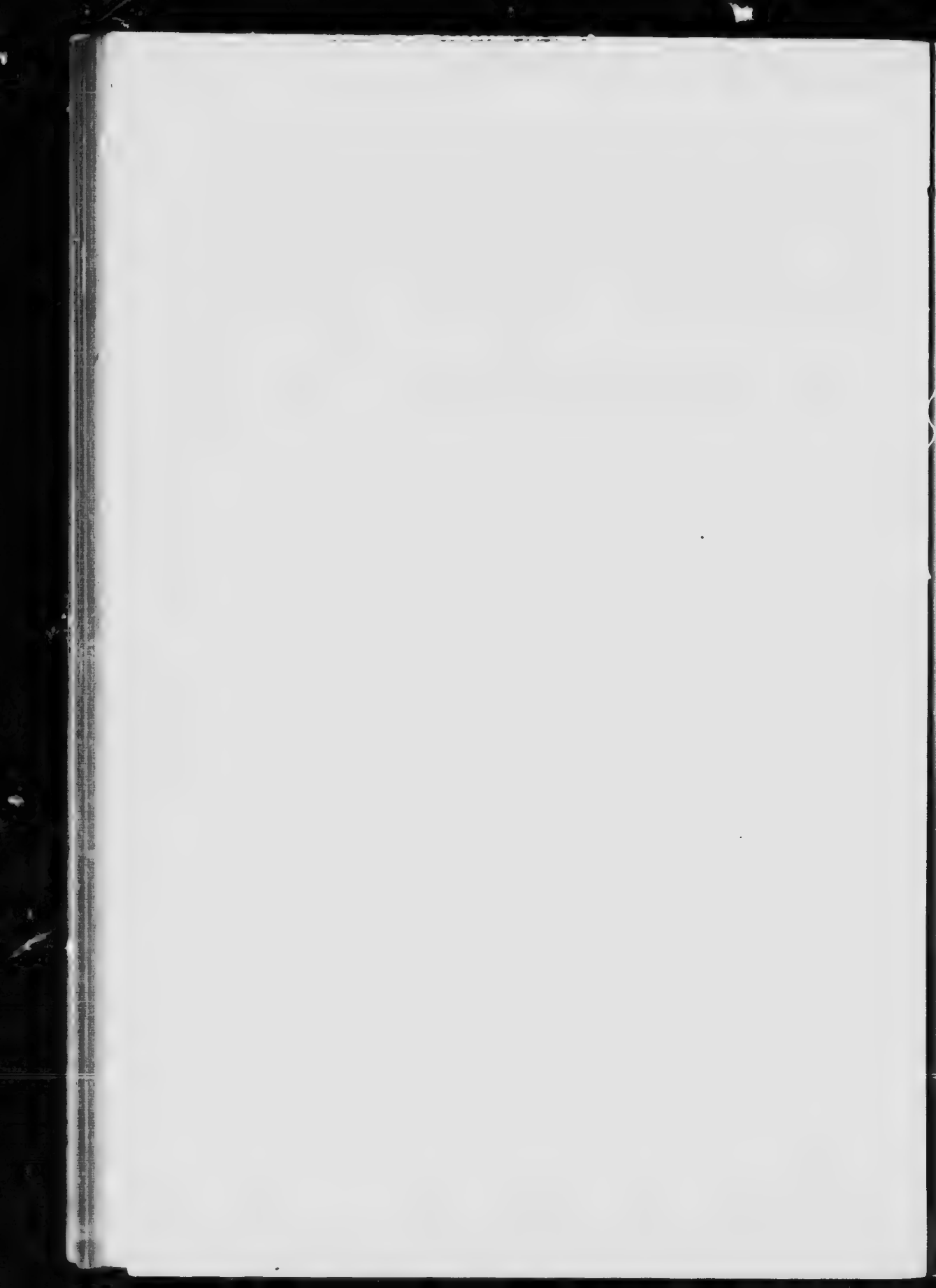
Cette Lettre-Pastorale sera lue dans toutes les églises du diocèse le premier dimanche où, après sa réception, se fera l'office divin. † THOS.-F. BARRY, *Evêque de Chatham.*

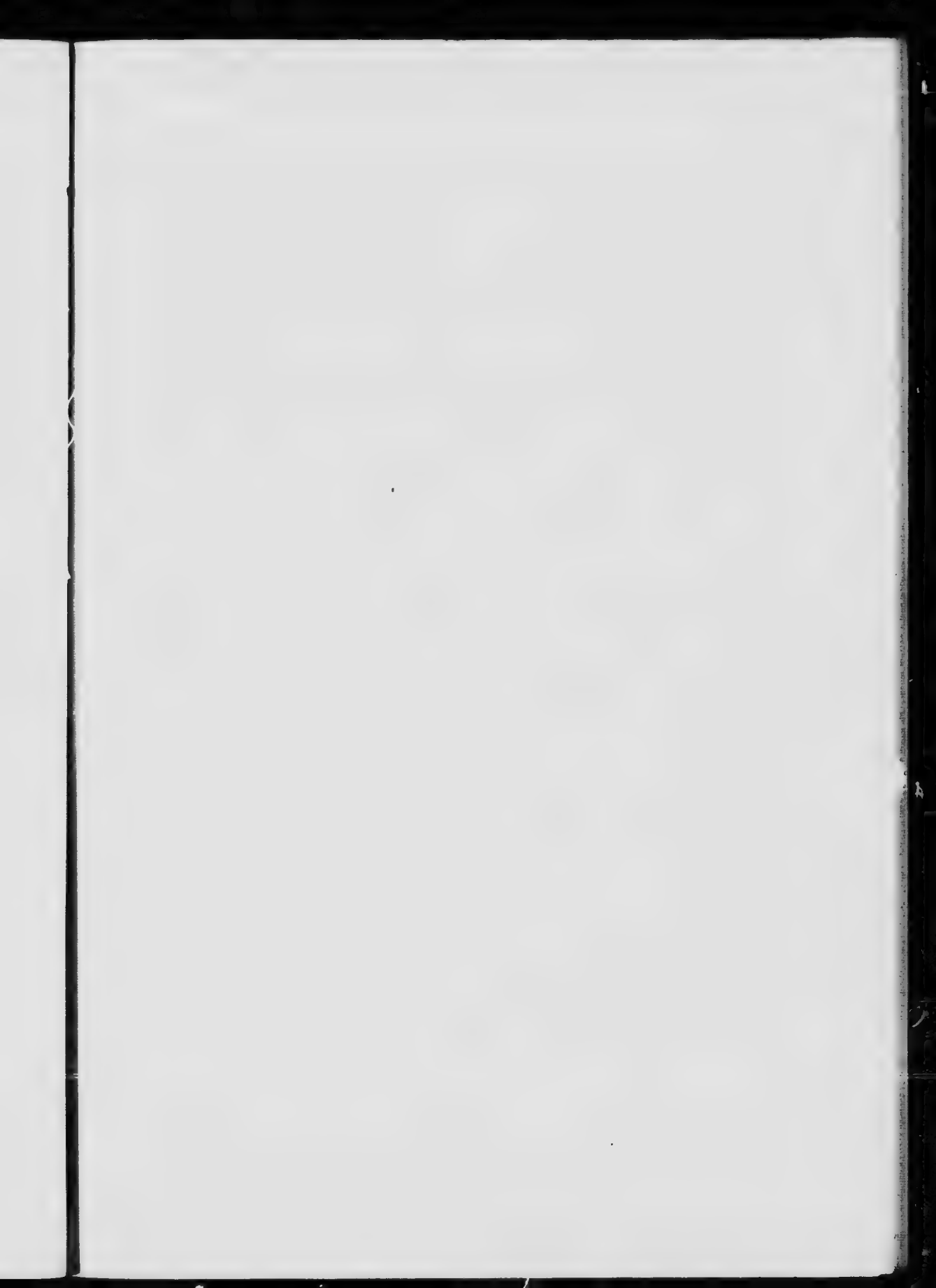
Chatham, N.-B. 13 février 1912,

Fête de la Commémoration de la Passion de N.-S. J.-C.

LOUIS O'LEARY, *Secrétaire.*







# Returns from the Missions of the Diocese of Chatham, for 1911.

| MISSIONS                | Eps. Coll. | Compon.  | A.P. Miss. | H. Land. | H. O.R. |
|-------------------------|------------|----------|------------|----------|---------|
| Acadieville.....        | \$ 30 00   | \$ 25 50 | \$ 70      | \$ 2 30  | \$      |
| Baker Lake.....         | 35 00      | 18 50    |            | 3 00     |         |
| Balmoral.....           | 2 00       | 144 00   | 4 17       | 10 00    | 1 00    |
| Barnaby River.....      | 50 33      | 7 00     | 3 50       | 2 00     | 1 00    |
| Bartholme.....          | 87 00      | 8 00     | 2 50       | 2 50     | 1 00    |
| Bathurst (Town).....    | 207 15     | 67 00    | 0 00       | 0 00     | 2 00    |
| Bathurst (Village)..... | 1 00       | 42 33    | 5 00       |          |         |
| Bellefleur.....         | 61 50      | 11 50    | 4 50       | \$ 25    | 2 00    |
| Blackville.....         | 00 00      | 25 50    | 5 50       | 2 00     |         |
| Bonestown.....          | 28 00      |          |            |          |         |
| Burnt Church.....       |            |          |            |          |         |
| Campbellton.....        | 112 16     |          |            |          |         |
| Caracquet.....          | 51 15      | \$5 00   | \$ 58      | 5 00     |         |
| Charbo.....             | 50 00      | 10 00    | 22 00      | 5 00     |         |
| Chatham.....            | 1115 80    | 113 00   | 5 00       | 5 00     | 1 00    |
| Dalhousie.....          | 30 00      | 24 00    | 18 10      | 24 60    |         |
| Drummond.....           | 56 30      | 10 00    | 3 20       | 1 30     |         |
| Elmiston.....           | 1 00 15    | 61 00    | 15 50      | 11 25    | 1 00    |
| Esquimaux.....          | 8 70       | 37 00    | 20 50      | 7 01     | 1 00    |
| Grand Anse.....         | 30 00      | 25 50    | 2 00       | 2 00     |         |
| Grand Falls.....        | 62 81      | 57 00    | 1 70       | 2 30     |         |
| Jaquet River.....       | 18 00      | 24 00    | 7 30       | 13 24    | 5 00    |
| L'Ance.....             | 51 21      | 61 00    |            |          |         |
| Loggieville.....        | 11 50      | 4 00     | 7 03       | 10 50    | 2 00    |
| Lower Caracquet.....    | 21 50      | 8 50     | 2 00       | 2 00     | 1 00    |
| Mission.....            | 26 00      | 0 50     | 2 50       |          |         |
| Nash's Creek.....       | 27 00      | 50 00    | 4 03       | 5 42     |         |
| Negunac.....            | 33 62      | 308 00   | 3 00       | 4 00     | 1 00    |
| Nelson.....             | 120 00     | 12 00    | 8 00       | 2 00     | 1 00    |
| Newcastle.....          | 201 51     | 23 00    | 21 86      | 25 04    |         |
| Paquetville.....        | 18 00      | 22 00    | 3 25       | 5 00     | 1 00    |
| Petit Rocher.....       | 13 00      | 62 50    | 5 00       | 12 50    | 1 00    |
| Pokemouche (Upper)..... | 81 00      | 95 00    | 3 50       | 11 00    | 1 00    |
| Pokemouche (Lower)..... | 22 00      | 8 00     | 2 50       | 3 50     | 1 00    |

|                        |            |            |           |           |          |
|------------------------|------------|------------|-----------|-----------|----------|
| Newcastle .....        | 201 51     | 23 00      | 21 86     | 25 04     |          |
| Paquetville.....       | 18 00      | 22 00      | 3 25      | 5 00      | 1 6      |
| Petit Rocher.....      | 130 00     | 62 50      | 5 00      | 12 50     | 1 5      |
| Pokemouche (Upper)     | 81 00      | 95 00      | 3 50      | 11 00     | 1 0      |
| Pokemouche (Lower)     | 22 00      | 8 00       | 2 50      | 3 50      | 1 0      |
| Red Bank .....         | 60 00      | 10 00      | 2 00      | 1 00      | 1 0      |
| Remous .....           | 131 70     |            | 7 00      | 2 00      | 1 0      |
| Rivibucto.....         | 80 35      | 4 00       | 7 00      | 1 00      | 1 0      |
| Rogersville.....       | 50 00      | 37 50      | 5 00      | 0 00      | 3 4      |
| Shannonville.....      | 29 30      | 20 00      | 3 50      | 10 00     |          |
| Shippegan .....        | 18 50      | 18 50      | 3 50      |           |          |
| St. Andrew .....       | 30 00      | 20 00      | 3 15      | 7 00      |          |
| St. Ann .....          | 20 00      |            | 5 00      |           |          |
| St. Basil.....         | 80 37      | 95 50      | 7 36      | 11 25     | 1        |
| St. Charles.....       | 30 00      | 53 00      | 2 50      | 2 50      |          |
| St. Francis Xavier...  | 27 80      | 51 00      | 1 47      | 1 40      | 3        |
| St. Francis of Assisi. | 10 00      | 112 00     | 4 13      | 0 58      |          |
| St. Hilaire.....       | 43 72      | 53 00      |           | 5 50      | 1        |
| St. Ignatius.....      | 14 10      | 3 50       |           |           |          |
| St. Isidore.....       | 20 00      | 43 50      | 10 50     | 5 00      |          |
| St. Jacques.....       | 44 00      | 40 00      | 7 89      | 4 36      | 2 15     |
| St. Leonard.....       | 38 00      | 41 50      | 3 50      | 4 00      |          |
| St. Louis .....        | 25 00      | 59 00      | 6 00      | 12 75     | 1        |
| St. Theresa.....       | 25 00      | 80 00      | 0 00      | 4 00      | 1        |
| Tobique.....           | 13 87      | 4 00       | 2 85      | 2 50      |          |
| Tracadie.....          | 70 50      | 105 00     | 15 00     | 13 00     | 2 00     |
| Upper Bay du Vin...    | 62 00      | 16 00      | 3 00      | 2 00      |          |
| Total.....             | \$ 4053 92 | \$ 2155 33 | \$ 313 36 | \$ 300 01 | \$ 35 00 |

You are respectfully requested to kindly notify us of any errors or omissions in the present lists, as well as forward Returns to Chancellor in future **before the end of the Current Year.**

Chatham, N. B., Feb. 16th, 1912.

LOUIS O'LEARY



CHATHAM, N. B.,

March 4th, 1912.

REVEREND FATHER:

You are undoubtedly aware of the demise of the Rt. Rev. Mgr. Allard, P. A., which occurred at Caraquet on the 30th of January last; and also of the Rev. Joseph Th  berge at the Hotel Dieu, Tracadie, on the 11th of February. I recommend these two worthy priests to your charitable prayers. If you have not already offered the holy sacrifice of the mass for the repose of their souls, I would, in accordance with the Council of Halifax, request you to do so as soon as possible.

I have to inform you that the faculty for using the short form of baptism for adults has been renewed by the Holy See and extended to the 17th of January, 1917.

Our Confirmation Tour next summer in the Counties of Northumberland and Kent will commence (D. V.) in the latter part of May or early in June. The pastors in these counties should spare no pains in duly preparing the children for a worthy reception of the great Sacrament of Confirmation. Where there are outlying missions attached to the parishes, the Pastor should, in addition to the Sunday School lessons, spend in each of the missions at least a fortnight, (one month if possible would be desirable) in teaching the Catechism and giving instructions preparatory for first communion if it is to take place at the same time, and for Confirmation.

As certain statements made in the public press may

mislead the faithful to believe that the Rev. Wilfrid Legacé of Burnt Church Mission has the consent and approbation of his Bishop for his colonization schemes, lumber and milling operations, etc., I take this opportunity to make known to you and all others whom it may concern, that such permission or approbation has not been granted by the Ordinary, or sought for by the clergyman above named.

Yours very faithfully,

† THOS. F. BARRY,

Bp. of Chatham.





# Payments on Acct. Apportionment of Two-Thirds of Cathedral Debt -- to July 1st, 1912.

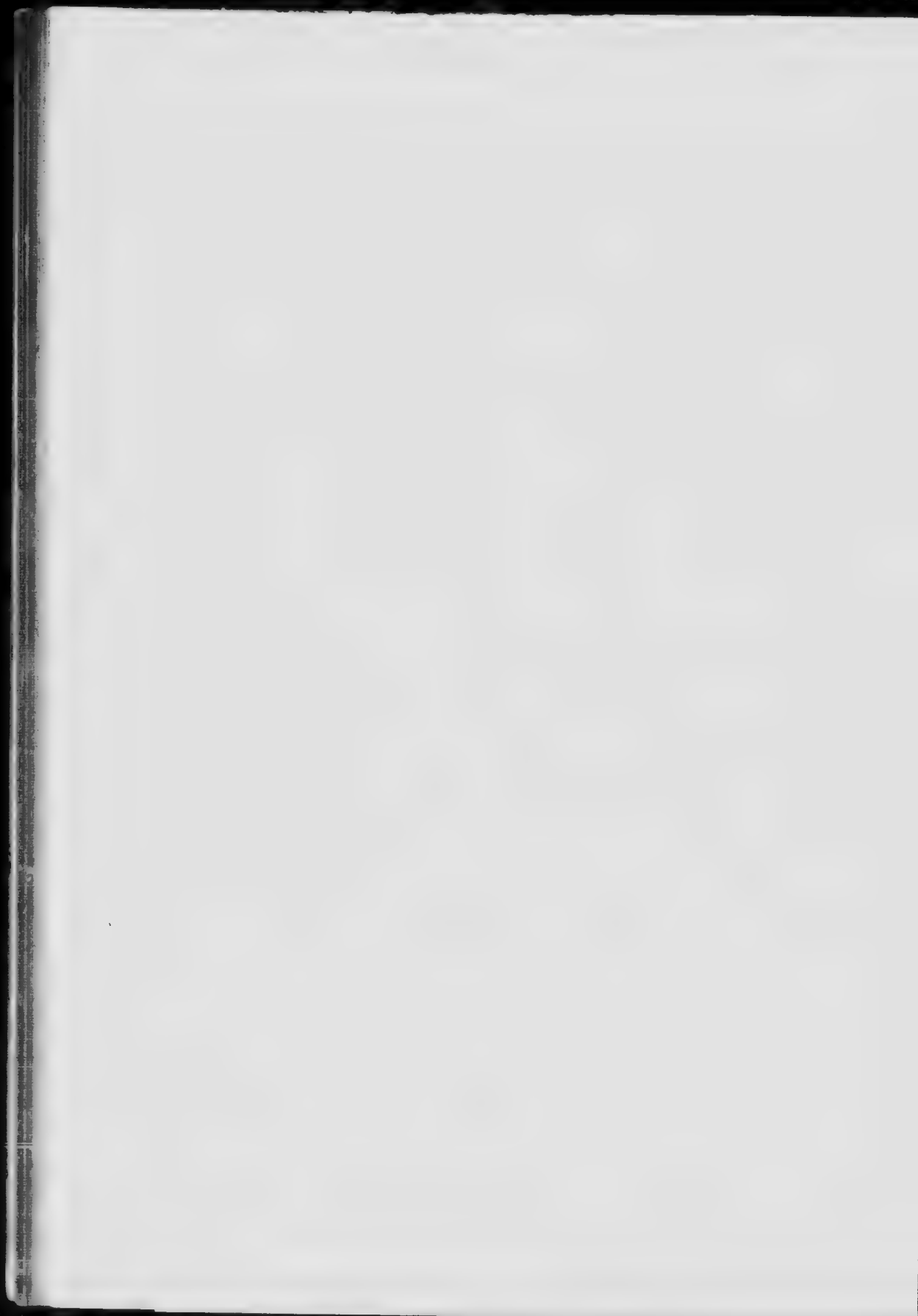
| MISSIONS                | Amount of Apportionment | Interest | Amount Paid | Amount Due |
|-------------------------|-------------------------|----------|-------------|------------|
| Acadieville.....        | \$ 692 50               | \$ 27 69 |             | \$720 09   |
| Balmoral.....           | 1307 49                 | 54 69    | \$54 00     | 1367 49    |
| Barnaby River.....      | 421 81                  | 6 44     | 500 00      | 127 05     |
| Baker Lake.....         | 802 53                  | 32 08    |             | 834 11     |
| Bartibogue.....         | 467 37                  | 18 69    |             | 486 09     |
| Bathurst (Town).....    | 2077 20                 | 83 08    | 1000 00     | 1160 28    |
| Bathurst (Village)..... | 147 88                  | 5 12     |             |            |
| Belledune.....          | 871 27                  | 22 12    | 1413 00     | 443 39     |
| Blackville.....         | 605 85                  | 22 46    | 450 00      | 528 31     |
| Boiestown.....          | 242 34                  | 6 69     | 100 00      | 252 03     |
| Burnt Church.....       | 276 96                  | 11 07    |             | 288 03     |
| Campbellton.....        | 2279 15                 |          | 2279 15     |            |
| Caraguet.....           | 3173 50                 | 66 63    | 2698 49     | 541 04     |
| Charlo.....             | 738 50                  | 29 44    |             | 768 00     |
| Dalhousie.....          | 1142 46                 | 45 69    |             | 1188 15    |
| Drummond.....           | 1286 71                 | 14 41    |             |            |
| Edmunston.....          | 1696 38                 | 60 03    | 1301 12     | 1377 00    |
| Esquimaux.....          | 1044 37                 | 41 77    | 386 31      | 1086 14    |
| Grand Anse.....         | 1373 26                 | 54 02    |             | 1428 18    |
| Grand Falls.....        | 1586 75                 | 55 82    | 307 93      | 1334 04    |
| Jacquet River.....      | 1038 00                 | 41 54    |             | 1080 14    |
| L'Ance.....             | 1569 44                 | 62 77    |             | 1632 21    |
| Loggieville.....        | 530 74                  | 1 88     | 532 72      |            |
| Lower Caraguet.....     | 1027 66                 | 41 08    |             | 1068 14    |
| Misson.....             | 905 89                  | 36 23    |             | 942 12     |
| Nash's Creek.....       | 669 32                  | 26 77    |             | 696 09     |
| Neguat.....             | 1044 37                 | 37 47    | 144 37      | 937 47     |
| Nelson.....             | 928 97                  | 32 65    | 200 00      | 761 02     |
| Newcastle.....          | 1817 55                 | 72 70    |             | 1890 25    |
| Paquetville.....        | 1315 55                 | 51 96    | 100 00      | 1267 52    |
| Petit Rocher.....       | 2082 97                 | 53 53    | 1327 00     | 809 50     |

|                                      |             |            |             |             |
|--------------------------------------|-------------|------------|-------------|-------------|
| Negundo.....                         | 1044 37     | 37 47      | 144 37      | 937 47      |
| Nelson.....                          | 928 97      | 32 05      | 200 00      | 761 02      |
| Newcastle.....                       | 1817 55     | 72 70      |             | 1890 25     |
| Paquetville.....                     | 1315 55     | 51 96      | 100 00      | 1267 52     |
| Petit Rocher.....                    | 2082 97     | 53 53      | 1327 00     | 809 50      |
| Pokemouche (Upper).....              | 1759 85     | 60 87      | 400 00      | 1420 72     |
| Pokemouche (Lower).....              | 507 76      | 20 31      |             | 528 06      |
| Portage Rivet.....                   | 980 90      | 20 00      | 1000 90     | 624 08      |
| Rel Bank.....                        | 600 08      | 24 00      |             | 822 10      |
| Renous Bridge.....                   | 790 40      | 31 61      |             | 680 86      |
| Richbucto.....                       | 680 86      | 27 25      | 27 25       |             |
| Rogersville.....                     | 2596 50     | 8 65       | 2005 15     |             |
| Shannonvale.....                     | 398 13      | 15 92      | 414 05      | 1050 14     |
| Shippegan.....                       | 1015 52     | 40 62      |             | 818 62      |
| St. Andrew.....                      | 934 74      | 34 21      | 150 32      | 1602 21     |
| St. Ann.....                         | 1540 50     | 61 62      |             | 1300 00     |
| St. Basil.....                       | 2157 98     | 67 57      | 025 55      | 774 40      |
| St. Charles.....                     | 952 05      | 34 35      | 212 00      | 1009 77     |
| St. Francis Xavier.....              | 1309 70     | 52 38      | 352 40      | 299 51      |
| St. Francis of Assist (Clair).....   | 663 55      | 26 06      | 390 10      | 1129 57     |
| St. Hilaire.....                     | 1257 86     | 46 71      | 175 00      | 450 05      |
| St. Ignatius.....                    | 432 75      | 17 30      |             | 1044 13     |
| St. Isidore.....                     | 1003 95     | 40 15      |             | 1084 39     |
| St. Jacques.....                     | 1263 63     | 45 70      | 225 00      | 1090 00     |
| St. Leonard.....                     | 1676 38     | 67 84      | 674 22      | 824 91      |
| St. Louis.....                       | 992 44      | 32 47      | 200 00      | 1350 17     |
| St. Theresa.....                     | 1298 25     | 51 92      |             | 342 04      |
| Tobique (Victoria Co.).....          | 328 89      | 13 15      |             | 1016 62     |
| Tracadie.....                        | 3236 97     | 81 05      | 2302 00     |             |
| Upper Bay du Vin St. Margaret's..... |             |            |             |             |
| Totals.....                          | \$ 65495 27 | \$ 2064 85 | \$ 22742 72 | \$ 43817 40 |

N. B. — If there are any errors or omissions in this list you are respectfully requested to notify us of the same.

Chatham, N. B., July 25th, 1912.

LOUIS O'LEARY, Chancellor.



CHATHAM, N. B.,

September 29, 1912.

Feast of the Dedication of St. Michael.

REVEREND FATHER,

After much deliberation and having at various times consulted the priests of the Diocese We have at length completed the system of Pew Legislation which We desired to introduce into the Diocese. As We have already informed you We experienced no little difficulty in deciding questions concerning the pews. Each Church has different rules and a decision given for one case, according to the rules of that parish, had frequently to be reversed for another parish which had different regulations. In fact to decide any case it became almost always necessary to request the Pastor to send Us a copy of the Pew Legislation for his parish. To obviate these difficulties We resolved to make out a system of Pew Legislation that could be adopted by every parish, and upon which as a basis all Our future decisions would be given.

We realized the impossibility of covering every contingent case, but in order to make Our system as complete and practical as possible, We some years ago made out a «Scheme » which We sent to all the priests of the Diocese requesting them to send to Us whatever remarks and suggestions they deemed advisable to make. With the aid of these suggestions and those made by the priests whom We were enabled to consult personally, We made out a revised edition of Our «Scheme » which We sent to the most important

points of the Diocese, again requesting the priests to make suggestions on the matter. Finally We submitted it to the Diocesan Consultors and from the information thus received from all points We have devised the Legislation of which copies are herewith printed.

From the first day of January, 1913, therefore, all former Pew Regulations, whenever made or approved, are abrogated and the «Pew Legislation For The Diocese of Chatham » as herein forwarded becomes the sole and only Legislation governing the sale and holding of Pews in the Diocese. Should any point not covered by the new Legislation require special ruling it must be exposed to Us in writing with the reasons therefor and if We deem it advisable We will give Our Approbation of the same.

You will remark that this Legislation contains three parts:

The first is concerning the credit given to those who contribute towards the building of a new Church. It is customary in some parishes to tell the parishioners that an account will be kept of all that they contribute and that they will receive credit for the same at the sale of the Pews. Not only does this encourage the faithful to give generously but it impedes others from coming at the last moment and buying the best Pews from those who have striven so earnestly to aid in building the Church. The value of such contributions, which We term «credit-receipts » is regulated by Part 1st of Our System. You will remark that this part does not deal directly with the pews. It is applicable only to a Church now under construction or to be commenced in the future. Nor does it mean that such credit must be promised when there is talk of a new church. Should the Pastor and Committee receive the approval of the Bishop to commence a Church in which when finished all the pews will be sold annually then Part 1st which relates to Credit-Receipts is not applicable. But wherever account is kept of the contributions and

credit given for them on the pews they shall be valued according to the rules of Part 1st.

The second part regulates the sale and holding of pews for life. In those churches in which the pews are not sold for life, part second has no application. They fall under Part 3rd. But in any church in which all or some of the pews are sold for the life of the purchaser, subject to an annual rent, the rules of Part 2nd are to be followed. You will note in Section 3 of this part that blanks are left to be filled. The object of this section is to give those who contributed to the Church when in construction a strong preference at the first sale. To obtain this a second blank space could be filled with a larger amount than the first. Thus, for instance, when a church is finished it is found that the best contributions are about \$ 200.00, but there is a man arrived lately in the parish and who is willing to give generously but has had no opportunity. In order not to exclude him altogether and deprive the church of his contributions the second blank could be filled in with say \$ 250.00 or more. It would then read «Persons having contributed \$ 200.00 or more to the construction of the church, or those who now contribute \$ 250.00 or more shall be free to bid on the first (say) five ranges. » In this manner a chance is given to a late comer to put himself on a par with the others by a larger contribution.

The third part, as we remarked, is applicable to pews that are sold every year, the date of sale to be filled in.

Another point in connection with Pew Legislation is the application of the rents obtained. All rents from the pews belong to the Church and not to the Pastor. We are aware that in certain missions, because of their poverty, the pew rents were taken by the Pastor with the permission of the Bishop. Some of these permissions were given by Our Venerable Predecessor, the late Bishop Rogers, and some by Ourselves, but We have no record of such permissions. Therefore, in order to have a record of all such cases We hereby

annull all permissions given to Pastors to take the pew-rents whether granted by the late Bishop Rogers or by Ourselves. Any Pastor deeming it necessary for his sustenance to use the pew-rents of his church must obtain from Us a written permission to do so after exposing his reasons for asking the same.

Each pastor will read his letter and the Pew Legislation in each church and will insert a copy of the same in the Pew Book of each of the Churches under his charge. If sufficient copies have not been received more may be obtained by application to Our secretary.

Yours very truly in Xto,

† THOS. F. BARRY,

Bishop of Chatham.

## Pew Legislation For The Diocese of Chatham

---

*To supersede all Pew Regulations hitherto made—Blanks to be filled in as per presently existing regulations for each Church—Special Regulations in addition to these must be submitted for approbation to the Bishop.*

---

### PART 1st—RULES REGULATING THE RECEPTION OF

#### « CREDIT RECEIPTS »

#### IN PAYMENT OF PEWS AT THE FIRST SALE

1. All credit-receipts otherwise acceptable shall be received for their face value in payment of amounts bid on pew.
2. All persons who in the estimation of the Committee constitute one family may combine their receipts to pay the amount bid by the existing head of the family
3. No transfer of receipts outside the family is permissible.
4. The credit-receipts given to any one who has died before the date of sale shall revert to the now existing head of the family and shall be received from him or her in payment of bid at first sale of pews.
5. Widows who by the death of their husbands, have become head of the family, lose their right by a subsequent marriage and their credit-receipts shall revert to their eldest son, or in default of son to their eldest daughter, or if no child-



ren exist the family shall be considered extinct, and the credit-receipts shall cease to be of value.

6. Should a daughter who is now considered the head of a family marry into another family, she loses her position as head of the family and her credit-receipts revert to her brother or sister should such exist, or in default of brother or sister shall cease to be of value.

7. After the first sale of pews no consideration shall be taken whatsoever of credit-receipts.

#### PART 2nd—PEWS SOLD FOR LIFE.

1. The pews shall be sold at public auction and given to the highest bidder. Half the amount bid must be paid at time of purchase and balance within six months after sale, upon the expiration of which time should the amount not be forthcoming the Pastor and Church Committee can withdraw the Pew or extend the time subject to the approval of the Bishop for each case. Only parishioners can buy pews for life.

2. Where there is an Upper and a Basement Church the purchaser of a pew in the Upper Church shall be entitled to the corresponding pew in the Basement Church unless it be specified at the sale that no such corresponding pew exists.

3. Persons having contributed..... or more to the construction of the Church, or those who now contribute..... shall be free to bid on the first..... ranges of pews. Those who have contributed..... or more, or those who now contribute..... may bid on the second..... ranges. All shall be free to bid on the remaining ranges.

After the first sale, however, all shall be absolutely free to bid on any pew in the Church.

4. Credit-receipts which shall receive approval according to the rules in Part 1st shall be received in payment of the amount bid on pew at first sale. If not sufficient to pay the entire amount of bid the balance must be paid in cash.

5. Should any person holding credit-receipts require two pews for self and family, and not for others, nor to rent, he may bid on both pews and at the first sale his credit-receipts shall be accepted in partial or total payments of amounts bid on both pews. In this case the purchaser must expose his reason beforehand to the Pastor and Church Committee and obtain permission to bid on the second pew.

6. The purchaser of a pew shall be entitled to hold the same from date of sale until death when it shall revert to his widow. In the case of death or the marriage of the widow it shall revert to the person, male or female, who by age or position, is the acknowledged head of the family. It shall not in any case, however, pass beyond the first generation, but shall revert to the Church to be resold at public auction, either annually or for life, as the Pastor and Committee decide.

7. In the case of pewholders moving with their families from the parish, the Church will have the right to sell their pew annually up to five years, but after these five years, whether the absent pewholder acquires a domicile elsewhere or not, should he not return to the parish, he shall lose his pew and it will be disposed of as after death. Should such a pewholder, however, retain his property in the parish the term for the expiration of his title shall be ten years instead of five.

For past cases at the time of the promulgation of these regulations where the party has been absent three years or more, the Pastor shall, if possible, give them one year's notice of the present regulation.

8. Pewholders are entitled to retain their pews only as long as the annual pew rent is paid and therefore should any pewholder neglect to pay his rent for one year the pew may be sold for the year next following, the same to continue until such time as the pewholder complies with the rules of payment therefor. Should the neglect continue for five years without good cause, the case shall be considered the same as that of a pewholder having left the parish.

9. The annual pew rent during the first five years shall be....., for the first..... ranges, ..... for the next..... ranges,....., for the next..... ranges, and..... for the remainder. Each fifth year the Pastor shall, with the approval of the Bishop, regulate the annual rent, raising it if necessary.

10. Every pewholder is entitled to rent the spare seats in his pew, provided that he has paid his annual rent, that the surplus, if any, above the amount proportionate to said annual rent be given to the Church, and that the permission of the Pastor be obtained.

11. The pews shall be sold to only one purchaser, shall be entered in the Church Books under his name and all transactions carried on under that name.

12. When new parishes are formed from old ones, or parts of old ones, the pewholders in the old parish who are to constitute the new one, may hold their pews in the old parish by paying their annual rent until the Church in the new parish is built, the pews offered for sale in it, and a resident pastor appointed, after which they lose all right to hold pews in the old parish.

13. A pew may be suppressed by the Bishop whenever the decorations or improvements of the Church require, and an arrangement will be made with the pewholder by the Pastor and Church Committee.

### PART 3rd—PEWS SOLD ANNUALLY.

1. The pews shall be sold each year on..... and given to the highest bidder, provided he be a parishioner.

2. When there is an Upper and a Basement Church the purchaser of a pew in the Upper Church shall be entitled to the corresponding pew in the Basement Church unless it be specified at the sale that no corresponding pew exists in the Basement Church.

3. To be permitted to bid on two or more pews the parishioner must first expose his reasons to the Pastor and obtain his approval.

4. The purchaser of a pew binds himself to pay the full annual rent and should he leave the parish before the end of the year the Pastor can hold him responsible for the entire rent.

5. The annual rent of a pew is to be paid in advance, and should the purchaser neglect to pay the rent within six months from date of purchase the Pastor may withdraw the pew and resell it at public auction.

6. Every pewholder is entitled to rent the spare seats in his pew, provided that he has paid his annual rent, that the surplus, if any, above the amount proportionate to said annual rent be given to the Church, and the permission of the Pastor be obtained.

7. The pews shall be entered in the Church Books under the name of one purchaser and all transactions must be carried on under that name.

8. When there are more pews than are required for

the needs of the parishioners, then only can a non-parishioner, who has exposed his reasons to the Pastor and obtained his approval, bid on a pew and the pew be sold to him.

† THOS.-F. BARRY,

Bishop of Chatham.

Chatham, N. B.,

September 29, 1912.

LOUIS O'LEARY, Secretary.

CHATHAM, N. B.

19 septembre 1912.

Fête de la Dédicace de Saint Michel.

Révérond et cher Monsieur,

Après mûre délibération, et après avoir, à plusieurs reprises, consulté les prêtres du diocèse, Nous avons enfin complété la méthode du Règlement des bancs que Nous voulions établir dans le diocèse. Comme Nous vous l'avons déjà fait connaître, Nous avons rencontré des difficultés assez sérieuses en cherchant à résoudre certains cas au sujet des bancs. Chaque église a ses règlements propres qui diffèrent d'avec ceux d'ailleurs, et, souvent, une décision donnée pour un cas, selon les règlements particuliers d'une paroisse, dut être renversée pour régler une affaire analogue dans une mission à méthode différente. En effet, dans presque tous les cas à régler, Nous dûmes demander au curé de Nous envoyer une copie du Règlement des bancs de sa paroisse. Pour parer à ces difficultés Nous avons décidé d'établir un système de Règlement des bancs qui pût être adopté dans chaque paroisse et sur lequel nous puissions baser nos jugements futurs.

Nous savions qu'il y a des cas fortuits pour lesquels il est impossible de légiférer à l'avance; mais, afin de rendre notre méthode aussi complète et aussi pratique que possible, Nous avons préparé, il y a quelques années, un plan que Nous avons adressé à tous les prêtres du diocèse en les priant de Nous communiquer les différentes remarques et suggestions qu'ils croiraient à propos de faire. Tenant compte des

avis ainsi reçus et de ceux des membres du clergé que nous pûmes consulter verbalement, Nous révisâmes notre plan qui fut envoyé sous sa nouvelle forme dans les principaux endroits du diocèse, avec prière renouvelée aux prêtres de nous faire connaître ce qu'ils en pensaient. En dernier lieu, Nous avons soumis le tout aux Conseillers diocésains et, à l'aide de toutes ces informations, nous avons dressé le Règlement dont vous avez la copie ci-jointe.

En conséquence, sont abrogés, dès le premier janvier 1913, tous les anciens Règlements des bancs, quel que soit le temps de leur existence ou de leur approbation, et le « Règlement des bancs pour le diocèse de Chatham » tel que publié ci-après devient l'unique et absolue direction fixant le mode de vente et de tenure des bancs dans le diocèse. Si quelque point de détail non compris dans ce Règlement a besoin d'être fixé d'une manière spéciale, il faudra Nous en faire l'exposé par écrit, avec les raisons à l'appui, et Nous en approuverons la réglementation particulière si Nous le croyons à propos.

Vous observerez que ce Règlement comprend trois parties:

La *première partie* règle l'application du crédit donné à ceux qui contribuent à la construction d'une nouvelle église. C'est la pratique dans certaines paroisses de prévenir les fidèles qu'il sera tenu compte de toutes leurs contributions dont ils retrouveront le montant à leur crédit lors de la vente des bancs. Cette pratique est non seulement un encouragement pour les paroissiens à donner largement, mais encore elle empêche les autres de venir au dernier moment acheter les meilleurs bancs au détriment de ceux qui ont fait des sacrifices pour aider à construire l'église. La première partie de notre Règlement fixe le mode d'application de la valeur de ces contributions. Comme vous l'observerez, cette partie ne traite pas directement des bancs et elle ne s'applique qu'aux églises en voie actuelle ou prochaine de construction. Encore

ne faut-il pas en déduire que tel crédit doit être promis quand on projette de bâtir une nouvelle église. Dans le cas où le curé et les syndics ont l'autorisation de l'Evêque de commencer la construction d'une église dont tous les bancs devront être vendus annuellement, quand l'édifice sera terminé, la première partie du Règlement qui a rapport aux «reçues-créances » n'a pas son application. Mais chaque fois qu'il est tenu compte des contributions et que l'on en donne crédit pour l'achat des bancs, on devra suivre les dispositions de cette première partie.

La *deuxième partie* régleme la vente et la tenure des bancs à vie. Cette deuxième partie ne s'applique pas aux églises dont les bancs ne sont pas vendus à vie, et ces églises sont alors régies par la *partie troisième*. Mais dans toute église où les bancs ou partie des bancs sont vendus pour la durée de la vie de l'acquéreur et sujets à une rente annuelle, il faut suivre les règles de la *partie deuxième*. Vous trouverez à l'article trois de cette *partie deuxième* des blancs à remplir. Le but de cette clause est de donner, lors de la première vente des bancs, une préférence dominante à ceux qui ont contribué pendant la construction même de l'église. Pour atteindre cette fin, on peut insérer dans le second blanc un montant plus considérable que celui du premier. Ainsi, par exemple, quand une église est terminée, on trouve que les plus hautes contributions sont d'environ \$ 200.00, et voici qu'un nouvel arrivé dans la paroisse veut donner généreusement ce qu'il n'a pas eu l'occasion d'offrir plus tôt. Afin de ne pas l'exclure absolument et de ne pas priver l'église de sa contribution, on pourrait inscrire au second blanc une somme de \$ 250.00 ou plus. Alors cet article se lirait : « Les personnes ayant donné \$ 200.00 ou plus pour aider à la construction de l'église et celles qui donnent maintenant \$ 250.00 ou plus ont le privilège de mettre l'enchère sur les (disons) cinq premières rangées. » Les nouveaux arrivés ont ainsi une chance d'être mis de pair avec les autres en payant une contribution plus forte.



La *troisième partie*, comme Nous l'avons déjà remarqué, s'applique aux banes vendus chaque année, et la date de la vente doit être insérée au blanc du premier article.

Un autre point en rapport avec le Règlement des banes est l'emploi des rentes perçues. Le revenu des banes appartient entièrement à l'église et non au curé. Nous savons que dans quelques missions, à cause de leur peu de ressources, et avec la permission de l'Evêque, la rente des banes revenait au curé. Quelques permissions à cet effet ont été données par notre vénérable prédécesseur, le regretté Monseigneur Rogers, et quelques-unes par Nous-même; mais nulle de ces permissions n'est enregistrée. Alors, et afin de pouvoir prendre en note chacun de ces cas, Nous annulons présentement toutes les permissions données aux curés, par Monseigneur Rogers ou par Nous-même, de s'approprier la rente des banes, et tout prêtre qui croit que ce revenu de son église lui est nécessaire pour sa subsistance devra Nous demander par écrit la permission de le prendre et Nous donner les raisons à l'appui de sa demande.

Tous les curés liront cette lettre et le Règlement des banes dans chacune de leurs églises et en inséreront une copie dans le registre des banes de toutes les dites églises. Ceux qui n'auront pas reçu un nombre suffisant de copies n'auront qu'à en demander à notre secrétaire.

Sincèrement à vous en N. S.

† THOS.-F. BARRY,

Evêque de Chatham.

## REGLEMENT DES BANCS

POUR LE DIOCESE DE CHATHAM

---

*Tout règlement antérieur cesse de valoir.— Les blancs doivent être remplis selon les règles actuelles et particulières de chaque église.— Les Règlements spéciaux à surajouter à ceux-ci doivent être soumis à l'approbation de l'Evêque.*

---

### PREMIERE PARTIE.— RÈGLES FIXANT L'ACCEPTATION DES « REÇUS-CRÉANCES »

EN PAIEMENT DES BANCS, LORS DE LA PREMIÈRE VENTE.

1. Tous les reçus-créances, d'ailleurs acceptables, seront acceptés à leur pleine valeur en paiement des sommes offertes par les enchérisseurs sur les bancs.

2. Toutes les personnes qui, au jugement du curé et des syndics, forment une même famille, peuvent accumuler leurs reçus pour payer la somme offerte par le chef actuel de la famille.

3. Il n'est pas permis de transporter les reçus en dehors de la famille.

4. Les reçus-créances donnés à toute personne qui décède avant la date de la vente des bancs retournent au

chef actuel de la famille de cette personne et seront acceptés de celui-ci en paiement de son enchère à la première vente.

5. Les veuves, qui, par le décès de leurs maris, sont devenues chefs de familles, perdent leur droit si elles se remariaient, et leurs reçus-créances retournent à leur fils aîné, ou, à défaut du fils, à la fille aînée, et, s'il n'y a pas d'enfants, la famille est considérée comme éteinte et les reçus sont périmés.

6. Quand une fille qui est devenue chef de maison passe, en se mariant dans une autre famille, elle perd les privilèges qu'elle avait comme chef et ses reçus-créances retournent à son frère ou à sa sœur, et, si elle n'a ni l'un ni l'autre, ses reçus cessent de valoir.

7. Après la première vente des bancs, les reçus-créances n'ont plus aucune valeur quelconque.

#### DEUXIEME PARTIE.— BANCs VENDUS A VIE

1. Les bancs seront vendus à l'enchère publique et adjugés au plus offrant. La moitié du montant de l'enchère devra être payée au temps de l'achat et la balance dans le cours des six mois suivants, à l'expiration desquels, si le paiement n'est pas complété, le curé et les syndics pourront reprendre le banc ou donner une extension de temps, mais avec l'assentiment de l'Evêque pour chaque cas. Les seuls paroissiens peuvent acheter des bancs à vie.

2. Là où il y a une église supérieure et un soubassement-chapelle, l'acquéreur d'un banc dans l'église supérieure aura droit au banc correspondant dans le soubassement, à moins d'avoir été prévenu, lors de la vente, que tel banc correspondant n'existe pas.

3. Les personnes ayant donné..... ou plus pour la construction de l'église, et celles qui donnent maintenant ..... auront le privilège de mettre l'enchère sur les .....

premières rangées de bancs. Celles qui ont donné..... ou plus, et celles qui donnent actuellement..... pourront mettre l'enchère sur les..... rangées suivantes. Tous les paroissiens seront libres d'acheter les bancs des autres rangées.

Toutefois, après la première vente, chacun sera absolument libre d'acheter un banc quelconque de l'église.

4. Les reçus-créances reconnus valables, selon les règles données dans la Première Partie, seront acceptés en paiement de la somme offerte à l'enchère de la première vente. Si la valeur de ces reçus n'égale pas le prix d'achat, la balance sera payée en monnaie courante.

5. Un possesseur de reçus-créances qui veut acheter deux bancs pour lui-même et sa famille, et nullement pour d'autres personnes ou pour louer, peut mettre l'enchère sur les deux bancs et, à la première vente, ses reçus-créances seront acceptés en paiement partiel ou total des prix offerts pour l'un et l'autre banc. Mais l'acheteur devra avoir, tout d'abord, exposé ses raisons au curé et aux syndics et obtenu d'eux la permission de mettre l'enchère sur un deuxième banc.

6. L'acquéreur d'un banc aura le droit de le garder depuis la date de l'achat jusqu'à sa mort, alors que ce banc retournera à sa veuve. A la mort ou au nouveau mariage de la veuve, le banc retournera à la personne, homme ou femme, qui, par son âge ou sa condition, sera reconnue comme chef de la famille. Cependant le droit de possession d'un banc acheté à vie ne se transmettra jamais au-delà de la première génération, à l'extinction de laquelle le banc revient à l'église qui le remet à l'enchère publique pour vente annuelle ou à vie, selon la décision du curé et des syndics.

7. Si un propriétaire de banc laisse la paroisse, en emmenant sa famille, l'église a le droit, pendant cinq ans, de vendre son banc à vente annuelle ; et, après cinq ans révolus, que le propriétaire ait acquis domicile ailleurs ou non,

s'il n'est pas revenu dans la paroisse il perd tout droit à la possession de son banc dont on dispose comme dans le cas du décès du possesseur. Cependant si ce propriétaire de banc retient la possession des biens-fonds qu'il a dans la paroisse, ses droits sur son banc seront de dix ans au lieu de cinq.

Pour les cas antérieurs à la promulgation du présent Règlement, si des propriétaires de bancs sont absents depuis trois ans ou plus, le curé leur donnera, s'il est possible, avis de cette règle une année avant l'expiration du terme fixé.

8. Les propriétaires n'ont de droits sur leurs bancs qu'en autant qu'ils en payent la rente annuelle. En conséquence, si un propriétaire ne paye pas la rente pendant une année, le banc peut être vendu pour l'année suivante et aussi longtemps que la rente n'est pas payée. Lorsque sans excuse valable, la rente n'aura pas été payée pendant cinq années consécutives, il sera disposé du banc tout comme dans le cas d'un propriétaire parti de la paroisse.

9. Pendant les cinq premières années, la rente annuelle sera de..... pour les..... premières rangées, de..... pour les..... rangées suivantes, et de..... pour le reste des bancs. Tous les cinq ans, le curé, avec l'assentiment de l'Evêque, déterminera le montant de la rente annuelle, qu'il élèvera même s'il est nécessaire.

10. Tout propriétaire de banc a le droit de louer les places vacantes de son banc, pourvu qu'il ait payé sa rente annuelle, qu'il verse à l'église ce qu'il retire de plus que le montant proportionné à sa rente annuelle, et qu'il ait obtenu la permission du curé.

11. Chaque banc sera vendu à un seul et même acheteur au nom de qui il sera porté au Livre des bancs et avec qui se règlera tout ce qui a rapport au dit banc.

12. Quand de nouvelles missions sont formées d'anciennes ou de parties d'anciennes paroisses, les propriétaires de bancs dans l'église primitive peuvent les garder, en en payant

la rente jusqu'à ce que l'église de la nouvelle paroisse soit construite, que les bancs en soient mis en vente et qu'un prêtre résident y soit placé. Alors cessent pour les fidèles détachés de l'ancienne paroisse tous leurs droits sur les bancs de la première église.

13. L'Evêque peut ordonner l'enlèvement d'un banc quand la décoration de l'église ou une amélioration l'exige. Alors un arrangement se conclut entre le propriétaire de ce banc et le curé avec les syndics.

### TROISIEME PARTIE.— BANCs VENDUS ANNUELLEMENT.

1. Les bancs seront vendus chaque année le..... et adjugés au plus haut enchérisseur, pourvu qu'il soit paroissien.

2. Là où il y a une église supérieure et un soubassement-chapelle, l'acquéreur d'un banc dans l'église supérieure aura droit au banc correspondant dans le soubassement, à moins d'avoir été prévenu, lors de la vente, que tel banc correspondant n'existe pas dans le soubassement.

3. Pour pouvoir acheter deux bancs ou plus, le paroissien doit d'abord faire connaître ses raisons au curé et avoir sa permission.

4. L'acquéreur d'un banc s'engage à payer lui-même toute la rente annuelle et, s'il laisse la paroisse avant la fin de l'année, le curé peut le tenir responsable de la rente complète.

5. La rente annuelle d'un banc doit être payée à l'avance et si l'acquéreur néglige de faire ce paiement pendant les six mois qui suivent l'achat, le curé pourra lui retirer le banc et le remettre à l'enchère publique.

6. Tout propriétaire de banc a le droit de louer les places vacantes de son banc, pourvu qu'il ait payé sa rente annuelle, qu'il verse à l'église ce qu'il pourrait retirer de plus

que le montant proportionné à sa rente annuelle, et qu'il ait obtenu la permission du curé.

7. Chaque banc sera porté dans les Livres de l'église au nom d'un seul acheteur avec qui se règlera tout ce qui a rapport au dit banc.

8. Quand il y a plus de bancs que n'en requièrent les paroissiens, et alors seulement, un étranger qui a fait agréer ses raisons au curé, peut enchérir sur un banc et se le faire adjuger.

† THOS.-F. BARRY,

Evêque de Chatham.

Chatham, N. B.,

29 septembre 1912.

LOUIS O'LEARY, *secrétaire.*

(Circular)

CHATHAM, N. B.

Nov. 15th, 1912.

REVEREND FATHER,

We beg to inform you that We have obtained from the Holy See a renewal of the extraordinary faculties of Formulæ « I » and « T ». The Rescript bears date of October 3rd, 1912 and renews the faculties for three years.

In virtue of this Indult We hereby renew to October 3rd, 1915, all the faculties formerly granted in virtue of the Indult bearing date November 20th, 1909, and in the same way in which said faculties were previously granted.

We wish to notify you also of the death at Quebec on August 23rd of the Rev. William Purcell, a priest of this Diocese and therefore entitled by the provisions of the Council of Halifax to a Requiem Mass from each priest of the Diocese. We have heard also of the death of Rev. Louis G. Leblanc, of the Diocese of St John, who was but recently working in our midst. We earnestly recommend the souls of these departed priests to your prayers that God may grant them eternal rest and peace.

Yours very truly in Xto,

† THOS.-F. BARRY,

Bp. of Chatham.



## CHRISTMAS GREETINGS

CHATHAM, N. B.

Dec. 18th, 1912.

REVEREND FATHER,

It is with great pleasure that We again offer you our customary Christmas Greetings and Wishes for a Happy New Year. The past year has been a great source of consolation to Us, not only because of the steady march of progress in the various parishes of the Diocese, but particularly because of the earnest efforts made by Our devoted Clergy and Religious Communities for the spiritual advancement of Our beloved faithful. A hard working earnest band of priests, such as are those with whom God has blessed Our Diocese, is the safest guarantee that the work in the Lord's vineyard is being carefully and well performed. Therefore do We « rejoice in the Lord » and offer to Him along with Our heartfelt thanks, Our humble petition that He may continue by His grace to second your efforts in strengthening and extending His Kingdom upon earth.

The consideration of the Infant God, born for love of us, together with the assurance that during the past year He has been born, by His sacramental presence, in the hearts of so many of His little ones, fills Our heart with the deepest thankfulness and sweetest consolation. What joy, indeed, for Us, who are responsible for the souls of even the least of those committed to Our care, to know that from earliest infancy,

from the moment that the dawn of reason appears upon the horizon of their young lives, those who are the future hope of the Church in Our Diocese are strengthened and encouraged, guided and protected by the presence in their hearts, as yet unsullied by the stain of sin, of Him Who, in the accents of undying, infinite love, said : — « Suffer the little children to come unto Me! »

With a generation of faithful and devoted adults, instructed and guided by a zealous clergy, with a generation of children growing up in the shadow of the tabernacle, truly may we augur well for the future of the Church in Our Diocese and deeply, humbly and sincerely do We thank God for the bountiful gifts of His all-merciful Providence.

May He continue to bless us all, laborious priests, devoted religious and faithful people ; may He continue to be with us all, being born again in the heart of each on Christmas morn to dwell therein in increased love and grace, making the New Year happy with the happiness of peace and good will for all,— a New Year that will be in the truest sense a year of grace and Heavenly benediction.

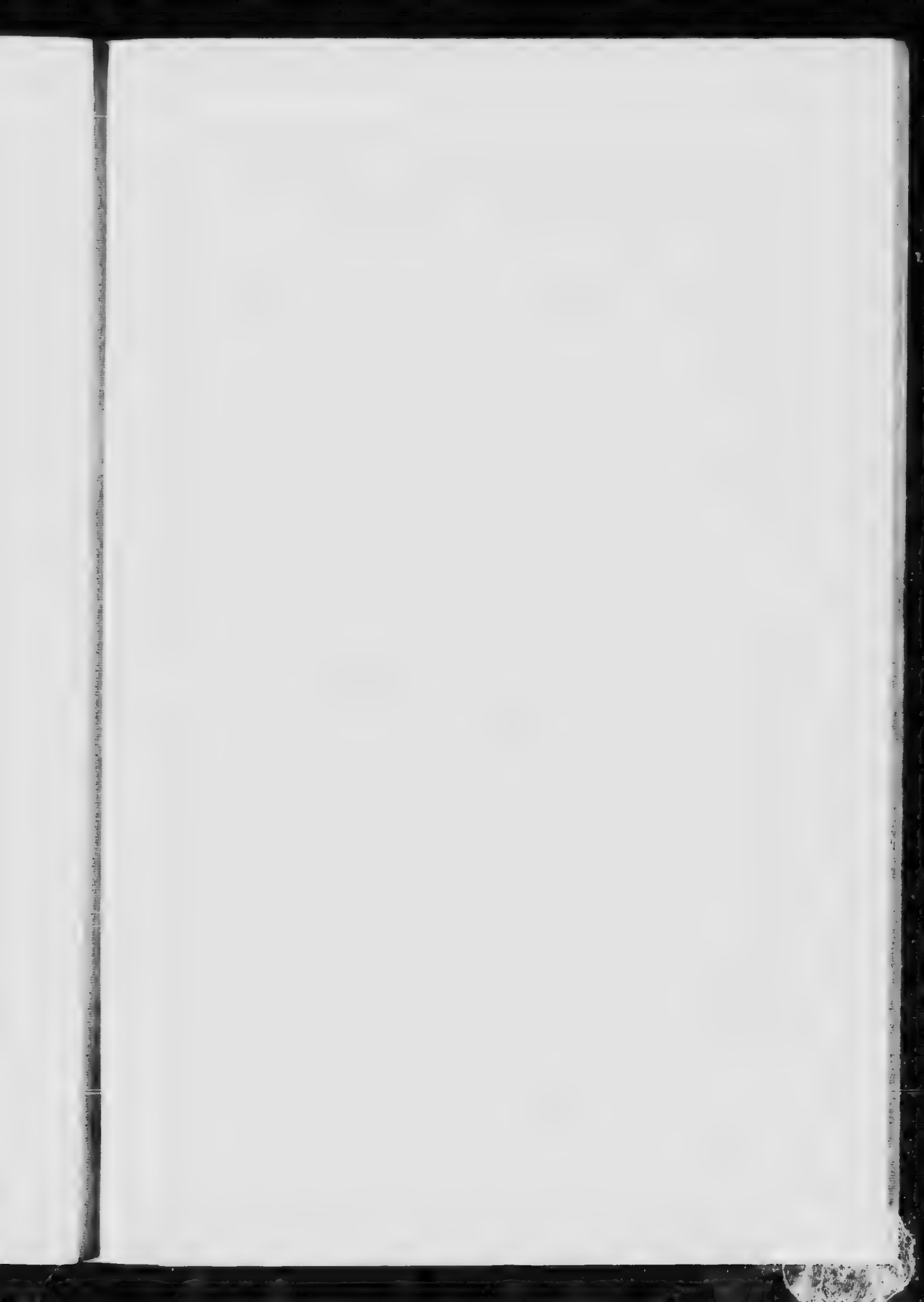
We beg to remain, Reverend Father,

Yours truly in Xto.,

† THOS.-F. BARRY,

Bp. of Chatham.





# Returns from the Missions of the Diocese of Chatham for 1912.

| MISSIONS.                |            |         |           |         |          |
|--------------------------|------------|---------|-----------|---------|----------|
|                          | Epi. Coll. | Compon. | Af. Miss. | H. Land | H. Oils. |
| Acadieville .....        | \$ 10 81   | \$ 9 00 | \$ 1 45   | \$ 2 28 | \$ 1 00  |
| Anderson .....           | 62 00      | 2 00    |           |         |          |
| Baker Lake .....         |            |         |           |         |          |
| Balmoral .....           | 31 00      | 5 00    |           | \$ 50   | 1 00     |
| Barnaby River .....      | 27 14      | 9 00    | 5 59      | 2 42    | 1 00     |
| Bartibogue .....         | 78 50      |         |           |         | 1 00     |
| Bathurst (Town) .....    | 247 80     | 147 50  | 6 00      | 10 00   | 1 00     |
| Bathurst (Village) ..... | 87 00      | 48 00   | 3 00      | 7 00    |          |
| Belledune .....          | 61 00      | 25 00   | 2 00      | 3 50    |          |
| Blackville .....         | 43 10      | 9 50    | 2 88      | 1 53    |          |
| Boiestown .....          | 24 05      |         |           |         |          |
| Burnt Church .....       |            |         |           |         |          |
| Campbellton .....        | 112 32     |         | 15 37     | 21 36   |          |
| Caracquet .....          | 63 10      | 123 00  | 15 04     | 12 72   |          |
| Charlo .....             |            |         |           |         |          |
| Chatham .....            | 1067 30    | 74 00   | 30 50     | 30 40   |          |
| Coalbrook .....          | 22 00      | 13 00   |           | 5 00    |          |
| Dalhousie .....          | 39 00      | 30 00   | 2 89      | 11 50   |          |
| Drummond .....           | 20 75      | 32 00   | 7 00      | 10 00   | 1 00     |
| Edmundston .....         | 85 10      | 117 00  | 15 73     | 21 12   |          |
| Esquimaux .....          | 11 35      |         | 1 00      | 1 00    | 1 00     |
| Grand Anse .....         | 32 00      | 7 00    | 1 75      | 2 25    |          |
| Grand Falls .....        | 61 00      | 37 50   | 0 10      | 14 45   | 5 00     |
| Jacquet River .....      | 45 78      | 22 00   |           |         |          |
| L'Amee .....             |            |         |           |         |          |
| Loggieville .....        | 00 50      | 8 00    | 2 00      | 2 00    | 1 00     |
| Lower Caracquet .....    |            |         |           |         |          |
| Miscon .....             | 30 00      | 13 00   | 4 30      | 3 70    |          |
| Nash's Creek .....       | 23 00      |         |           | 0 00    |          |
| Negnac .....             | 30 00      | 24 00   | 3 50      | 5 00    | 1 00     |
| Nelson .....             | 125 00     | 12 00   | 8 00      | 2 00    | 1 00     |
| Newcastle .....          | 217 80     | 61 00   | 22 78     | 21 53   |          |
| Pacquetville .....       | 20 00      | 35 00   | 5 00      | 0 00    |          |
| Petit Rocher .....       | 120 00     | 40 00   | 3 00      | 15 50   |          |
| Pokemouche (Hiver) ..... |            |         |           |         |          |

|                               |            |            |           |           |          |
|-------------------------------|------------|------------|-----------|-----------|----------|
| Nelson.                       | 39 00      | 24 00      | 3 50      | 5 00      | 1 00     |
| Newcastle                     | 125 00     | 12 00      | 8 00      | 5 00      | 1 00     |
| Pacquetville                  | 217 80     | 61 00      | 22 78     | 21 53     | 1 00     |
| Petit Rocher                  | 2 00       | 35 00      | 5 00      | 0 00      |          |
| Pokemouche (Upper)            | 120 00     | 09 00      | 3 00      | 15 50     | 1 00     |
| Pokemouche (Lower)            | 64 00      | 74 50      | 3 00      | 14 00     | 1 00     |
| Red bank                      | 23 00      | 23 00      | 3 00      | 5 00      | 1 00     |
| Renous                        | 02 00      | 0 00       |           |           |          |
| Richibucto                    | 1 00       | 10 00      | 2 00      | 2 00      | 1 00     |
| Rogersville                   | 84 00      | 21 00      | 7 00      | 4 80      | 1 00     |
| Shannonvale                   | 00 00      | 17 00      | 5 00      | 5 00      | 1 00     |
| Shippegan                     | 22 00      | 3 00       |           |           |          |
| St. Andrew                    | 23 00      | 50 00      | 1 50      | 3 00      |          |
| St. Ann                       | 30 00      | 20 00      | 3 50      | 8 00      |          |
| St. B. sil.                   |            |            | 0 92      |           |          |
| St. Charles                   | 74 50      | 42 50      | 10 30     | 14 00     | 1 00     |
| St. Francis Xavier            | 25 00      | 57 50      | 2 50      | 2 50      |          |
| St. Francis of Assisi (Clair) |            |            |           |           |          |
| St. Hilare                    | 10 00      | 83 00      | 3 00      | 7 20      |          |
| St. Ignace                    | 50 00      | 41 50      | 3 00      | 2 50      | 1 00     |
| St. Isidore                   | 43 00      | 10 50      |           |           |          |
| St. Jacques                   | 22 38      | 18 00      | 10 00     | 5 50      |          |
| St. Leonard                   | 31 05      | 47 00      | 7 39      | 9 20      | 1 00     |
| St. Louis                     | 27 00      | 05 50      | 4 00      | 4 00      |          |
| St. Theresa                   | 25 00      | 56 00      |           | 14 00     |          |
| Tobique                       | 14 00      |            | 2 50      | 2 50      | 1 00     |
| Tracadie                      | 61 45      | 105 50     | 17 00     | 20 00     |          |
| Upper Bay du Vin              | 43 00      | 0 00       | 3 00      | 2 00      |          |
| Totals                        | \$ 3818 22 | \$ 1817 50 | \$ 260 05 | \$ 356 94 | \$ 20 50 |

You are respectfully requested to kindly notify us of any errors or omissions in the present lists as also forward Returns to Chancellor in future BEFORE THE END OF THE CURRENT YEAR.

Chatham, N. B., Jan. 14th, 1913.

LOUIS O'LEARY.



# PASTORAL LETTER

OF

THE RT. REV. THOS.-F. BARRY, D. D.,  
BISHOP OF CHATHAM

---

THOMAS-FRANCIS, BY THE GRACE OF GOD, AND FAVOR  
OF THE APOSTOLIC SEE, BISHOP OF CHATHAM

*To the Reverend Clergy, Religious Communities  
and Faithful Laity of the Diocese of Chatham,  
Health and Benediction in the Lord :*

DEARLY BELOVED,

During the past number of years Our pastoral instructions have been upon the Ten Commandments of God. Having terminated these, We will now treat of the Commandments or Precepts of the Church.

We must first ask ourselves, however, what we mean by the Church? For what end was it instituted? And by whom was it founded?

Prescinding from the different significations of the word « Church » as existing before the Old Covenant or during it, we shall adopt the familiar definition of the Christian Church under the Law of Grace as given by our Cate-



chism, which teaches us that «the Church is the congregation or society, of all the faithful who, being baptized profess the same doctrine, partake of the same sacraments, and are governed by their lawful pastors under one visible head on earth, » that is, the Bishop of Rome, the Successor of St Peter, the Sovereign Pontiff, the Pope. « The Church, » says St Augustine, « consists of the faithful dispersed throughout the world. » St Paul calls the Church the house and edifice of God. Writing to his disciple St Timothy, he says, « These things I write to thee, hoping that I shall come to thee shortly. But if I tarry long, that thou mayest know how thou oughtest to behave thyself in the house of God, which is the Church of the living God, the pillar and the ground of truth, » 1 Tim., III, 14, 15.

« The Church is here called a house, » says the Catechism of the Council of Trent, « because it is, as it were, one family governed by one head and participating in a community of all spiritual goods. » All its pastors and people are united together so as to form one body in Christ : the pastors teaching and the flock receiving the same Divine Truths which Jesus Christ revealed, and which the Apostles and their successors taught— « one Lord, one Faith, one Baptism, » Eph., IV, 5.

The members of the Church may be divided into three classes, viz: those in heaven, those on earth and those in purgatory. The blessed in heaven constitute the Church Triumphant. They are the most glorious and happy assemblage of blessed spirits, who having triumphed over the world, its temptations and dangers, are forever free from the trials and troubles of this life and are rewarded with the fruition of eternal bliss. The faithful on earth are called the Church Militant because they are continually waging war with their implacable enemies, the world, the flesh and the devil. The souls in purgatory form the Church Suffering because they are still expiating their sins in the purifying fire of their temporary abode. We are not to infer, however, that there are three

Churches, for the three are only the component parts of one and the same Church all united with Christ as the members of a body are united with the head.

The Church Militant is composed of the good and the bad, both professing the same faith and partaking of the same sacraments, but differing in conduct and morality. Thus the Church is compared in the Gospel to the ten virgins, five of whom were good and five foolish ; to a field in which tares are mixed with the good grain ; to the Ark of Noah which contained clean and unclean animals. While faith teaches us that the good and the bad are found in the Church, yet this same faith declares that the wicked are contained in the Church as the chaff is mingled with the good grain or as dead members are sometimes attached to a living body. And Our Lord assures us in His holy Gospel that He will purge His floor and will gather His wheat into His barn, but the chaff He will burn with unquenchable fire, St Luke, III, 17.

We may also consider the Church Militant as a living organism composed of a body and soul. Some of its members belong to the assembly of the faithful and take part in their worship, but, living in a state of grievous sin, their works are dead and their assistance at the public prayers and religious ceremonies of the Church does not directly avail them to salvation, although it may obtain for them the grace of repentance. The Church seeing what is outward, recognizes them as her children, but God, Who sees the interior of the heart, will not accept their apparent homage as agreeable to Him. Those who are baptized and live in a state of grace, who obey through love or fear all the laws of God and would without hesitation make any sacrifice to belong to the true Church of Christ, if they knew it, are truly members of the soul of the Church, are living lives pleasing to God and all their good works are conducive to their eternal happiness. Thus all who die united to the body and the soul of the Church are saved ; but those who die united to the body of the Church only, and are separat-

ed from its soul by sin, are lost. With these considerations and the foregoing principles we can answer the false interpretation given so often to the truthful maxim : « Out of the Church there is no salvation. » It is not credible that God will reject the upright Christian whose life is in conformity to His Holy Law, and who is doing all he can, and is disposed to do more, to merit heaven, although through invincible ignorance he does not belong to the body of the Church.

When Christ left the world He had not by His passion and death on the cross terminated the work of the Redemption. It is true He had fully repaired the injury done by sin to His Heavenly Father and acquired infinite merits to pay the debt incurred by it, but it behooved man to apply these merits to himself and to offer them to God in expiation of his faults. Now the Church was destined to be the treasure house of these merits from the midst of which, as from a pure and untainted source, they should be dispensed to the faithful. Man rebelled voluntarily against God, he must now submit himself voluntarily with mind and heart, and for this purpose Christ left him dogmas to believe and moral laws to practise, of both of which the Church is the only faithful depository and the Apostles and their lawful successors the only authorized teachers to all nations. Again, after man has become reconciled to God, being a free creature, he may abuse of the Divine mercy and fall again, but Christ, the tender and loving Father, foresaw man's weakness and provided means for his restoration and perseverance, and those means are the sacraments which He instituted and of which the Church is the jealous guardian and her legitimate ministers the only administrators.

The Church was founded, not by men down through the centuries, but by Jesus Christ Himself, constituting Himself the « corner stone » and basing the foundation solidly upon His Apostles and their successors, as is clearly shown in

several places in Holy Writ. As Christ was not to live forever in the flesh to teach all nations He chose among His followers twelve men whom he called Apostles. These were to be the foundation of His Church and the witnesses of what He did and what He taught. He said to them : « You shall be witnesses of Me in Jerusalem and all Judea and Samaria, and even to the uttermost parts of the earth. » Acts, I, 8. He declares to them that He himself was sent by God, His Father, to preach the Gospel and He adds : « As my Father hath sent Me I also send you, » St John, XX, 21. He revealed to them all Divine truths : « All things whatsoever I have heard of My Father, I have made known unto you. » St John, XV, 15. And as the time drew near for him to leave the world and return to His Father He gave them commission to teach the same to all nations : « Go ye into the whole world, and preach the Gospel to every creature, » St Mark, XVI, 15. And according to St Matthew: « Going therefore teach ye all nations, baptizing them in the name of the Father and of the Son and of the Holy Ghost. Teaching them to observe all things whatsoever I have commanded you : and behold I am with you all days even to the consummation of the world, » St Mark, XXVIII, 19, 20. The Apostles were not allowed to allege their ignorance, their poverty or their inability for such an important mission, for Christ assured them that the « Comforter » whom He would send would strengthen them and teach them all things and give them such courage and wisdom that no power on earth could resist them. « The Holy Ghost, » He says to them, « Whom the Father will send in my name, He will teach you all things and bring all things to your mind whatsoever I shall have said to you, » St John, XIV, 26. He sent them clothed with the same power with which He Himself had been invested by His Heavenly Father. « All power is given to me in heaven and on earth. As the Father hath sent me I also send you, » St Matth., XXVIII, 18, St John, XX, 21.

The Apostolic College must have a head, a superior,

and while Christ Himself is ever the invisible supreme head of the Church, yet it has pleased Him to appoint one of His Apostles to be His vicegerent on earth, the Supreme Pastor and Visible Head of the Church. To St Peter this sublime office was committed. « Thou art Peter (that is a rock) and upon this rock, » says Christ, « I will build my Church, » St Mark, XVI, 18. To St Peter in particular and to none of the other Apostles Our Lord said : « To thee I will give the keys of the kingdom of heaven, » and after His resurrection He gave to Peter the formal commission to feed his whole flock both pastors and people. (St John XXI,) and thus constituted him the Chief Pastor of His fold of which He had said before: —

« There shall be one fold and one shepherd, » St John, X, 16. To Peter Christ gave the power to make laws for all the pastors as well as for all the faithful and to enforce these laws, saying :

« I will give to thee the keys of the kingdom of heaven and whatsoever thou shalt bind upon earth shall be bound also in heaven, and whatsoever thou shalt loose upon earth it shall be loosed also in heaven, » St Mark, XVI, 18, 19. As Christ gave power to the Apostles « to teach all nations, » and assured them that He would be with them all days even to the consummation of the world, it is evident that that same power was to descend to their lawful successors, for the Apostles neither did, nor could, teach all nations in their own persons nor were they to continue on earth till the end of time. Therefore the commission given to them was not confided to their persons but to their office, that is, to them and their successors in office who should continue to the end of the world, and complete the work they had begun. St Paul was not among those to whom this commission was given personally, yet he says that he was appointed « a preacher and an Apostle, a doctor of the Gentiles in faith and truth, » 1 Tim., II, 7. He ordained St Timothy to be a pastor of the Church, and a successor of the Apostles, and he charged him « to preach the word in season and out of season ; to reprove, entreat and rebuke, with all patience and doctrine, » 2 Tim.,

IV, 1.2. He also commands him to ordain others to succeed him in the office of teaching. « The things, » he says, « which thou hast heard of me. . . . the same commend to faithful men, who shall be fit to teach others also, » 2 Tim., II, 2. From the foregoing texts of Sacred Scripture it is clear that Christ gave power to his Apostles and their lawful successors in office to govern His Church, to make laws and regulations for the divine service and the administration of the Sacraments, independent of any other power, for He who bestows « all power in heaven and on earth » excludes none and makes no limitations. From the beginning the Church exercised such power and will continue to exercise it in the fulfilment of her divine mission to the end of time. She recognizes the full extent of the independent power of the State within the limits assigned to it by Our Lord, that is, to make laws for the benefit of the civil commonwealth. She has always taught the doctrine that to Caesar should be given what belongs to Caesar and to God what belongs to God.

The laws or precepts of the Church which we are now about to explain are chiefly six. Some of these have been so fully treated of in the instructions given on the Ten Commandments that we shall not dwell upon them here, or at most shall speak of them very briefly.

While there is a close connection between the Commandments of God and the Precepts of the Church there are also many points of difference between them. The Ten Commandments of God are the revealed expression of God's will for man and may not be changed by the Church, while the precepts appertain to her discipline and may be changed or modified by her according to the needs of time and place or the wants of her children dispersed throughout the world. The Ten Commandments are binding on all men ; the precepts or laws of the Church bind only her members. The reason of this difference is because the commandments of God are the expression of the divine principles of right and wrong which

are as unchangeable as God Himself ; whereas the precepts of the Church, being human laws, are not binding where it is impossible or very difficult to observe them. Thus to break a commandment of God is to do something that is always bad and sinful and which cannot be justified by circumstances, such as denying the faith, committing murder or robbery, dishonoring parents or profaning the name of God, etc.; whereas to do something forbidden by a command of the Church is not bad in itself but by reason of the law of the Church which forbids it. Thus eating meat on Friday or missing mass on a Sunday or Holiday is, it is true, sinful, but not because it is something bad in itself, but because it is an act of disobedience to a lawful command of the Church of God. The authority of the Church which imposes the obligation may relax it or remove it altogether. Thus the Church may exempt sick people from the obligation of fasting or hearing mass on Sunday, but she cannot, under any circumstances, allow a person to tell a lie, cheat his neighbor, or deny his faith, in a word, break any of the Commandments of God. If we consider the precepts of the Church in particular we shall find that the duties required of us by them are duties which God Himself expressly demands from us and that the Church by her command only determines the particular manner, time and place in which we should perform them.

The first precept of the Church is to sanctify the Sundays and Holiday by hearing mass and resting from servile works. God Himself requires that a certain part of our time be dedicated to His service. In the Old Law He commanded one day in seven to be set apart for this purpose, and to be kept with great strictness in memory of all He did for His chosen people. Under the New Law the Church appoints the first day of the week to be set aside to render homage to God for all He has done for the world by the Incarnation, Death and Resurrection of His Divine Son. The hearing of Holy Mass on Sundays and Holiday s is the greatest act of

religious worship we can offer to God, and the Church imposes the obligation on all her children under pain of grievous sin when it is possible for them to fulfil it. Those who would neglect hearing mass from one end of the year to the other, or who frequently absent themselves from the Holy Sacrifice, would be depriving themselves of one of the greatest blessings God could bestow upon them and their families. The person who would spend the Sunday in servile work without necessity, or who would pass God's day in pleasure and amusement or in idle, lazy habits, would be unworthy of the name of catholic or christian. As the two different parts of the first precept of the Church were explained in our instruction on the Third Commandment of God we will now pass to the second precept of the Church, which is :

#### TO FAST AND ABSTAIN ON THE DAYS COMMANDED.

The end of this precept of the Church is to regulate the obligation of fasting and abstinence which by a general command of God is laid upon us. By the term « *fasting* » we mean a restriction in the quantity and the quality of food ; by « *abstinence*, » restriction in quality only. On abstinence-days we take our usual number of meals but are forbidden certain kinds of food ; on fasting days we are forbidden both our usual number of meals and certain kinds of food.

The precept of abstinence is as old as the world. It began in Paradise when God commanded our first parents to abstain from eating of the fruit of the tree of knowledge. When Noah left the Ark God commanded him to abstain « from flesh with blood. » Gen., IX, 4. When God brought his people out of Egypt he forbade them strictly to eat of leavened bread for seven days during the solemnity of the Passover. He even forbade them to have it in their houses under pain of death, Exod., XII, 15. The servants of God in the Old Law observed



so strictly the law of abstinence that they on many occasions preferred to die rather than break it. It is related in the 10th chapter of Daniel that in order to obtain certain favors from God he «abstained from pleasant bread, and neither flesh nor wine entered his mouth till the days of three weeks were accomplished.» And this abstinence was so pleasing to God that He sent him an Angel from heaven to tell him his petitions were granted.

There is no more touching incident related in the Testament than that of the Venerable Eleazar, over ninety years old, refusing to obey the command of a heathen king to eat the flesh of swine rather than violate the most sacred laws of God and of his nation. «But they that stood by, being moved with wicked pity for the old friendship they had with the man, taking him aside, persuaded that flesh might be brought, which it was lawful for him to eat, that he might make as if he had eaten, as the king had commanded.» That by so doing he might be believed to comply with the king's command for the sake of their old friendship they did him this courtesy. But he began to consider the dignity of his age and his ancient years, and the inbred honor of his gray head, and his long life and conversation from a child; and he answered without delay, according to the ordinances of the holy law made by God, saying that he would rather be sent into the other world. For it doth not become our age, said he, to dissemble: whereby many young persons might think that Eleazar at the age of four score and ten years was gone over to the life of the heathens: and that by my dissimulation, and for a little time of ease, I should be deceived: and he said I should bring a curse upon my old age. For though the present time should be delivered from the punishments of men, yet I cannot escape the hand of the Almighty neither alive nor dead. Wherefore by departing manfully out of this life I shall show myself worthy of my old age: and I shall leave an example of fortitude to young men, if with ready mind and constancy I suffer

an honorable death for the most venerable and most holy laws. And having spoken thus he was forthwith carried to execution. But when he was now ready to die with the stripes, he groaned and said : O Lord, who hast the holy knowledge, thou knowest manifestly that whereas I might be delivered from death and suffer grievous pains in body, but in soul am content to suffer these things because I fear thee. »  
 II. Much.

The first ordinance of the Apostles was to command the new converts Gentiles « to abstain from things accursed to » I from blood, » Acts, XV. 29 ; and at the same time to declare that this command was dictated by the Holy Ghost. But it may be alleged that St. Paul said, « It is the will of God that we should bid to marry and to abstain in meats » 1 Cor. 7. 1. It is to be observed that St. Paul does not mean that the Apostles ought to abstain from the use of devils when they commanded the people to abstain « from blood and things strangled, » 1 Cor. 7. 1. He saw the ridiculous errors of the Manichean heretics who afterwards appeared and taught that it was sinful to marry and that flesh and wine were evil in themselves because not created by the true God but by an evil deity; hence he wished to forestall such impious errors by declaring that « the creature of God is good and not to be rejected, for it is sanctified by the word of God and by prayer, » 1 Cor. 7. 4.

The obligation of *fasting*, as well as that of *abstaining* from certain kinds of food is repeatedly taught in the Old and New Testament. « Be converted, » He says, « to Me with your whole hearts, in fasting and in weeping and in mourning, » Joel, II, 12. The Ninivites proclaimed a public fast and were pardoned, Jonas, III, 7-10. « We fasted and » it our God, » says Esdras and it fell out prosperously unto us » Esdras, VII, 23. Our Lord Himself fore-

tells that His disciples will fast after His departure from them : « The day will come when the bridegroom shall be taken away from them, and then they shall fast, » St Matth., IX, 15. He even prescribes rules for fasting : « When thou fastest, anoint thy head and wash thy face that thou appear not to men to fast. . . . and thy Father, who seeth in secret will repay thee. » St Matth., VI, 17, 18. St Paul prescribes fasting among other virtues and exhorts us to it. « Let us in all things, » he says, « exhibit ourselves as the ministers of God in much patience. . . . in watchings, in fastings, » II Cor., VI, 4. And again he tells us that his life was spent « in hunger and thirst, and often fasting. » II Cor., IX, 27. The prophetess Anna is highly commended in the Gospel because she « served God night and day in fasting and prayer, » St Luke, II, 37. The Fathers of the Church in all ages inculcate the duty of fasting. « Fast, » says St Basil, « because you have sinned, and fast also to prevent the danger of sinning. » Moses and Elias, as did Our Lord Himself, fasted forty days without eating or drinking.

The law of fasting is to be observed principally in Lent, in Advent, on Ember days and on Vigils. The Church commands us to fast in Lent in memory of Our Blessed Lord's fast of forty days and in order to prepare us for the solemn celebration of His passion and death on the cross and that we may participate abundantly in the joys of His Resurrection.

The Advent fast is to Christmas what the Lenten fast is to Easter. It is a time of penance and prayer to prepare the faithful to celebrate worthily the great feast of Christmas and thus, enrich their souls with the spiritual favors Our Lord desires to bestow on the world on this great Anniversary.

By Ember days we mean three days—Wednesday, Friday and Saturday—set apart in each quarter of the year to sanctify the season by prayer and fasting. These days occur

in the first week of Lent for the spring season ; in Pentecost week for the summer ; in the third week of September for the autumn, and in the third week of Advent for the winter. The object of Holy Church in the institution of the Ember days is to sanctify each season of the year by works of penance and mortification. During Ember days we should ask God's blessing on the fruits of the earth and thank Him for the harvest which He has graciously vouchsafed to give us. The Ember days are also the times especially appointed for the ordinations of the ministers of the Church. We should pray on these days for the priesthood that God might abundantly pour down His blessings on those who are chosen as the guides of the faithful in the way of salvation. In the early age of the Church it was customary for the faithful to spend the days preceding the great festivals of the Church in prayer and fasting and these days were called Vigils. For divers reasons these Vigils fell into disuse and at present there are very few of them observed.

We hope that all the faithful will endeavor to enter into the spirit of the Church during the Holy Season of Lent in order to derive from it the many and great advantages of sanctification which it offers them. We have seen in some of the foregoing quotations from Holy Scripture that fasting and abstinence are a powerful means of appeasing the anger of God provoked against us by our sins and negligences. Fasting helps to prevent future transgressions by weakening the violence of passion and temptation. It makes the soul more spiritual, more disposed to prayer, more generous towards the poor and needy, more prompt and courageous in the performance of all religious exercises.

This year the Regulations for the Lenten fast will be by dispensation from the Holy See, the same as last year.

This pastoral shall be read in all the churches of the

Diocese on the first Sunday after its reception that the Pastor shall officiate therein.

Chatham, N. B. Feb. 3rd, 1913.

Feast of the Purification of the B. V. Mary.

† THOS.-F. BARRY,  
Bishop of Chatham.

LOUIS O'LEARY.

*Secretary.*

# LETTRE PASTORALE

DE

SA GRANDEUR MONSIEUR THOS-F. BARRY,  
EVÊQUE DE CHATHAM



THOMAS-FRANÇOIS, PAR LA MISÉRICORDE DE DIEU  
ET LA GRACE DU SAINT-SIÈGE APOSTOLIQUE,  
EVÊQUE DE CHATHAM

*Au clergé séculier et régulier, aux Communautés religieuses  
et aux fidèles du diocèse de Chatham*

*Salut et bénédiction en Notre-Seigneur.*

Nos très chers Frères,

Au cours des dernières années, nous avons traité dans nos instructions pastorales des dix Commandements de Dieu. Ce sujet étant épuisé, Nous vous entretiendrons maintenant des Commandements ou préceptes de l'Eglise.

Mais tout d'abord il importe de savoir ce que nous entendons par l'Eglise, pour quelle fin elle a été instituée et par qui elle a été fondée.

Laissant de côté les diverses significations du mot

« Eglise, » tel qu'on l'entendait avant l'établissement et pendant le cours de la Loi ancienne, Nous adopterons la définition familière de l'Eglise chrétienne sous la Loi de la grâce, telle que donnée par notre Catéchisme, lequel nous enseigne que « l'Eglise est la réunion ou la société de tous les fidèles qui, après avoir reçu le baptême, professent la même doctrine, participent aux mêmes sacrements et sont gouvernés par leurs pasteurs légitimes sous un même chef visible ; » et ce chef visible est l'Evêque de Rome, le Souverain Pontife, le Pape.

« L'Eglise, dit saint Augustin, est formée des fidèles dispersés dans le monde entier. » Saint Paul appelle l'Eglise la maison et l'édifice de Dieu. Ecrivant à son disciple saint Timothée, l'apôtre lui dit : « Je vous écris ceci, quoique j'espère aller bientôt vous voir ; afin que si je tardais plus longtemps, vous sachiez comment vous conduire dans la maison de Dieu, qui est l'Eglise du Dieu vivant, la colonne et la base de la vérité. » (1 Tim., III, 14, 15). « L'Eglise, dit le Catéchisme du Concile de Trente, est appelée ici maison, parce qu'elle est comme une seule famille, sous la direction d'un père unique, et du sein de laquelle tous les biens spirituels sont communs. Tous ses pasteurs et son peuple sont unis de telle sorte qu'ils ne forment qu'un corps dans le Christ : les pasteurs enseignant et le troupeau acquérant la connaissance des mêmes vérités divines que Jésus-Christ a révélées et que les apôtres et leurs successeurs ont prêchées : « Un seul Seigneur, une seule foi, un seul baptême. » (Eph., IV, 5).

Les membres de l'Eglise peuvent être partagés en trois classes : ceux qui sont au ciel, ceux qui vivent encore sur la terre, et ceux qui sont détenus au purgatoire. Les Saints du ciel constituent l'Eglise triomphante. Ces âmes bénies qui ont triomphé du monde, de ses tentations et de ses dangers, sont en possession de la gloire et du bonheur suprêmes ; déliivrées à jamais des misères et des luttes de la vie terrestre, elles jouissent de la félicité éternelle qui est leur récompense. — Les fidèles vivant sur la terre où ils doivent combattre

sans cesse ces ennemis implacables qui sont le monde, la chair et le démon, sont l'Eglise militante. — Les âmes du Purgatoire qui expient leurs fautes dans le feu purificateur de leur prison temporaire, forment l'Eglise souffrante. Ne concluons pas, toutefois, qu'il y a trois Eglises, car ces trois divisions que Nous venons de mentionner ne sont que les différentes parties qui constituent l'unique et même Eglise et qui sont unies au Christ comme les membres du corps le sont à la tête.

L'Eglise militante se compose des bons et des méchants : les uns et les autres professent la même foi et participent aux mêmes sacrements ; mais ils diffèrent les uns des autres par leur conduite et leurs mœurs. Ainsi, dans l'Evangile, l'Eglise est comparée à dix vierges dont cinq étaient sages et les autres folles,—à un champ dans lequel l'ivraie est mêlée au bon grain,—à l'arche de Noé qui renfermait les animaux purs et les impurs. La foi nous apprend, il est vrai, que l'Eglise renferme des bons et des méchants, mais cette même foi nous enseigne que les méchants sont dans l'Eglise comme le mauvais grain parmi le bon, ou comme des membres morts qui restent quelquefois attachés à un corps vivant. Et Notre-Seigneur nous assure dans son saint Evangile qu'il nettoiera son aire et qu'il amassera le blé dans son grenier et brûlera la paille dans un feu qui ne s'éteindra jamais. (Luc, III, 17).

Nous pouvons aussi considérer l'Eglise militante comme un organisme vivant composé d'un corps et d'une âme. Certains membres de cette Eglise participent à l'assemblée des fidèles, prennent part aux exercices du culte ; mais, comme ils vivent dans l'état du péché mortel, leurs œuvres sont mortes et leur assistance aux prières publiques et aux cérémonies religieuses de l'Eglise ne contribue pas, au moins directement, à leur salut ; cependant ces actes de religion peuvent leur obtenir la grâce du repentir. L'Eglise, qui voit le dehors, reconnaît ces pécheurs pour ses enfants ; mais Dieu, qui voit dans l'intime du cœur, n'acceptera pas un hommage apparent qu'il ne peut agréer.



Ceux qui sont baptisés et qui vivent en état de grâce, qui, par amour ou par crainte, obéissent aux lois de Dieu et seraient prêts à faire sur le champ tous les sacrifices nécessaires pour entrer dans la véritable Eglise du Christ s'ils la connaissaient, ceux-là appartiennent véritablement à l'âme de l'Eglise ; leur vie est agréable à Dieu et leurs bonnes œuvres leur sont comptées pour le bonheur éternel. Ainsi tous ceux qui, au moment de leur mort, sont unis au corps et à l'âme de l'Eglise sont sauvés ; mais ceux qui ne sont unis qu'au corps de l'Eglise, au moment de leur mort, et sont séparés de son âme par le péché, sont perdus. A l'aide de ces considérations et des principes posés antérieurement, on réfute la fausse interprétation si souvent donnée à la maxime toujours vraie : « Hors de l'Eglise il n'y a point de salut. » On ne peut croire que Dieu rejette le chrétien sincère dont la vie est conforme à sa loi divine, qui fait tout ce qui lui est possible et ferait volontiers davantage pour mériter le ciel, parce qu'une ignorance invincible retient ce chrétien séparé du corps de l'Eglise.

Bien qu'il eût souffert sa passion et qu'il fût mort sur la croix, le Christ n'avait pas terminé l'œuvre de la rédemption quand il partit de ce monde. Il avait sans doute amplement réparé l'injure faite à son Père céleste par le péché dont il avait payé la dette par la valeur infinie de ses mérites, mais il restait à l'homme de se pourvoir de ces mérites et de les offrir à Dieu pour l'expiation de ses propres fautes. Alors l'Eglise fut établie la dépositaire de ces trésors spirituels qui seraient distribués aux fidèles comme d'une source pure et inviolable. L'homme, après s'être volontairement révolté contre Dieu, doit ensuite se soumettre d'esprit et de cœur, et Jésus-Christ lui a donné des dogmes à croire, des lois morales à observer, dogmes et lois dont l'Eglise est la seule gardienne et que les apôtres et leurs légitimes successeurs ont seuls la mission d'enseigner à toutes les nations. De plus, le pécheur réconcilié avec Dieu reste un être libre : il peut, abusant de la miséricorde divine, retomber dans le péché. Aussi ce Père

tendre et aimant qui est le Christ a prévu la faiblesse de l'homme et a pourvu à son relèvement et à sa persévérance par le moyen des sacrements qu'il a institués et confiés à la garde fidèle de son Eglise pour être dispensés par ses seuls ministres légitimes.

L'Eglise a été fondée, non par les hommes au cours des siècles, mais par Jésus-Christ lui-même qui est fait la « pierre angulaire » et qui en a établi les fondements solides sur les Apôtres et leurs successeurs, comme il est clairement démontré en maints endroits des Saints Livres. Comme le Christ ne devait pas vivre toujours dans son corps mortel pour enseigner toutes les nations, il choisit parmi ses disciples douze hommes qu'il nomma ses Apôtres ; ils devaient être le fondement de son Eglise et les témoins de ses actes et de sa prédication. « Vous me rendrez témoignage, leur dit-il, dans Jérusalem, dans toute la Judée et la Samarie, et jusqu'aux extrémités de la terre. » (Actes, I, 8). Il leur déclare qu'il a été envoyé par Dieu son Père pour prêcher l'Evangile, et il ajoute : « Comme mon Père m'a envoyé, je vous envoie. » (Jean, XX, 21). Il leur révèle toutes les vérités divines : « Je vous ai fait savoir tout ce que j'ai appris de mon Père. » (Jean, XV, 15). Et, comme le temps approchait où il devait quitter ce monde et retourner à son Père, il les charge d'enseigner ces mêmes vérités à toutes les nations : « Allez par tout le monde, prêchez l'Evangile à toute créature. » (Marc, XVI, 15) ; et en saint Mathieu : « Allez donc et instruisez tous les peuples, les baptisant au nom du Père, et du Fils, et du Saint-Esprit, et leur apprenant à observer toutes les choses que je vous ai prescrites ; et assurez-vous que je suis toujours avec vous jusqu'à la consommation des siècles. » (Math., XXVIII, 19-20). Les apôtres ne pouvaient alléguer leur ignorance ou leur pauvreté ou leur incapacité de remplir une mission de telle importance, car le Christ leur assure que le « Consolateur » qu'il doit leur envoyer les fortifiera, leur enseignera toutes choses et leur communiquera un courage et une

sagesse tels que nulle puissance terrestre ne pourra leur résister :

« L'Esprit-Saint que mon Père enverra en mon nom, vous enseignera toutes choses et vous fera ressouvenir de tout ce que je vous ai dit. » (Jean, xiv, 26). Il les envoya investis du même pouvoir qu'il avait reçu de son Père céleste : « Toute puissance m'a été donnée dans le ciel et sur la terre. » (Math., xxviii, 18), et « Comme mon Père m'a envoyé, je vous envoie. » (Jean, xx, 21).

Le collège apostolique doit avoir un chef, un supérieur. Le Christ est lui-même et pour toujours le chef suprême, mais invisible, de l'Eglise ; cependant il a bien voulu désigner un de ses apôtres pour être son Vicaire sur la terre, le Pasteur suprême et le chef visible de l'Eglise. C'est à saint Pierre qu'il confie cette charge sublime : « Tu es Pierre, lui dit-il, et sur cette pierre je bâtirai mon Eglise. » (Marc, xvi, 18). C'est à saint Pierre personnellement et à nul autre de ses apôtres que Notre-Seigneur a dit : « Je te donnerai les clefs du royaume des cieux, » et, après sa résurrection, il donna formellement à Pierre la mission de paître tout son troupeau, pasteurs et fidèles (Jean, xxi), et l'établit ainsi le Pasteur suprême du troupeau dont il avait dit auparavant : « Il n'y aura qu'un troupeau et qu'un pasteur. » (Jean, x, 16). A saint Pierre Jésus-Christ donna le pouvoir et de faire des lois pour régir tous les pasteurs aussi bien que tous les fidèles, et de faire observer ces lois, quand il lui dit : « Je te donnerai les clefs du royaume des cieux et tout ce que tu lieras sur la terre sera lié dans le ciel, et tout ce que tu délieras sur la terre sera délié dans le ciel. » (Math., xvi, 19).

Comme le Christ a donné aux apôtres la mission « d'enseigner toutes les nations » et qu'il leur a promis d'être avec eux tous les jours jusqu'à la consommation des siècles, il est évident que cette mission devait se transmettre à leurs successeurs légitimes, puisque les apôtres ne pouvaient par eux-mêmes prêcher à toutes les nations et qu'ils ne devaient pas vivre jusqu'à la fin du monde. Les pouvoirs qui leur furent

er :  
ous  
ce  
tis  
ute  
h.,  
us

ar.  
e,  
er  
ur  
re  
l,  
).  
es  
e  
t  
t  
u  
e  
r  
a

donnés n'étaient donc pas limités à leurs personnes, mais à leur mission, c'est-à-dire à eux et à leurs successeurs en office, lesquels devaient continuer jusqu'à la fin des siècles et compléter l'œuvre commencée par les apôtres. Saint Paul n'était pas avec ceux qui reçurent personnellement cette mission ; cependant il écrit qu'il a été établi lui-même prédicateur et apôtre, et le docteur des gentils dans la foi et dans la vérité (1 Tim., II, 7). C'est lui qui ordonna saint Timothée, le créant pasteur dans l'Eglise et un des successeurs des apôtres, et le chargeant « d'annoncer la parole à temps et à contre-temps, de reprendre, de supplier et de menacer avec pleine patience et saine doctrine. » (II Tim., IV, 2). Il lui commanda aussi d'en ordonner d'autres pour lui succéder dans la prédication. « Ce que vous avez appris de moi, lui dit-il, donnez-le en dépôt à des hommes fidèles qui soient eux-mêmes capables d'en instruire d'autres. » (II Tim., II, 2).

D'après ces textes de la sainte Ecriture, il est clair que Jésus-Christ a donné à ses apôtres et à leurs légitimes successeurs le pouvoir de gouverner son Eglise, de faire des lois pour réglementer le service divin et l'administration des sacrements, et cela indépendamment de toute autre puissance, car celui qui donne « tout pouvoir dans le ciel et sur la terre » ne fait aucune réserve et ne fixe nulles limites. Dès le commencement, l'Eglise a exercé ce pouvoir et elle continuera à l'exercer en remplissant sa divine mission jusqu'à la fin des temps. Elle reconnaît absolument à l'Etat le pouvoir indépendant de faire, dans les limites que lui assigne Notre-Seigneur, des lois pour le bien-être civil du peuple. L'Eglise a toujours enseigné cette doctrine : qu'il faut rendre à César ce qui est à César et à Dieu ce qui est à Dieu.

Les lois ou préceptes de l'Eglise que Nous allons expliquer sont au nombre de sept. Dans nos instructions sur les dix Commandements de Dieu, Nous avons traité de quelques-uns de ces préceptes de l'Eglise suffisamment pour ne plus y revenir ou au moins pour ne les toucher que légèrement. Il y

a beaucoup de points de contact entre les Commandements de Dieu et les préceptes de l'Eglise, pourtant il y a aussi différence entre eux sur plusieurs points. Les dix Commandements de Dieu sont l'expression révélée de la volonté divine à l'égard de l'homme et ils ne peuvent pas être altérés par l'Eglise, tandis que les préceptes de l'Eglise concernent sa discipline et peuvent être changés ou modifiés par elle-même selon les circonstances de temps et de lieu, ou selon les besoins de ses enfants dispersés dans le monde entier. Les dix Commandements de Dieu obligent tous les hommes, tandis que les préceptes de l'Eglise ne lient que les chrétiens qui sont ses membres. La raison de cette différence est que les Commandements de Dieu sont l'expression des principes divins du bien et du mal, principes qui sont immuables comme Dieu lui-même, alors que les préceptes de l'Eglise, qui sont des lois humaines, n'obligent pas quand il est impossible ou très difficile de les observer. Ainsi violer un commandement de Dieu est toujours un acte mauvais et coupable qui ne peut être justifié par aucune circonstance : comme renier sa foi, commettre le meurtre ou le vol, déshonorer ses parents, profaner le nom de Dieu, etc. Mais faire une chose défendue par un précepte de l'Eglise n'est pas mal en soi, mais seulement parce que l'Eglise le défend. Ainsi manger de la viande un vendredi, manquer la messe un dimanche ou un jour de fête d'obligation, sont vraiment des péchés, bien qu'ils ne soient pas des actes mauvais en eux-mêmes, mais parce qu'ils sont des actes de désobéissance aux légitimes ordonnances de l'Eglise de Dieu.

L'autorité de l'Eglise qui impose une obligation peut l'adoucir ou l'enlever tout à fait. Ainsi l'Eglise peut exempter les infirmes du jeûne ou de l'assistance à la messe le dimanche, mais elle ne pourra jamais, pour aucun motif, permettre à quelqu'un de mentir, de voler, de renier la foi, ou de violer un quelconque des Commandements de Dieu. En considérant bien les préceptes de l'Eglise, nous retrouverons que les obligations qu'ils nous imposent sont des devoirs expressément

exigés de nous par Dieu lui-même et dont l'exécution est particulièrement déterminée par les ordonnances ecclésiastiques qui en fixent le mode, le temps et le lieu.

Les deux premiers commandements de l'Eglise nous ordonnent de sanctifier les Dimanches et les Fêtes d'obligation par l'assistance à la messe et l'abstention des œuvres serviles. Dieu lui-même exige que nous consacrons une partie de notre temps à son service. Dans l'Ancien-Testament, il avait ordonné de lui réserver à cette fin chaque septième jour qu'il fallait strictement garder en mémoire de tout ce qu'il avait fait pour son peuple. Sous la Loi nouvelle, l'Eglise a fixé le premier jour de la semaine pour rendre grâces à Dieu de tout ce qu'il a fait pour le monde entier par l'Incarnation, la Mort et la Résurrection de son Divin Fils. L'assistance à la sainte messe, les dimanches et jours de fêtes, est le plus grand acte de religion que nous puissions offrir à Dieu, et l'Eglise en impose l'obligation à tous ses enfants, sous peine de péché grave, quand cette assistance est possible. Ceux qui manquent la messe d'un bout à l'autre de l'année ou qui négligent souvent d'assister au saint sacrifice se privent de l'une des plus précieuses bénédictions que Dieu puisse donner à eux-mêmes et à leurs familles. Celui qui emploierait le dimanche à faire des œuvres serviles ou qui passerait le jour du Seigneur dans les divertissements, les jeux ou l'oisiveté, serait indigne de son titre de catholique ou de chrétien. Comme les deux parties essentielles de ces deux premiers préceptes ont été exposées dans notre instruction pastorale sur le troisième Commandement de Dieu, Nous passerons aux commandements de l'Eglise qui prescrivent

#### LE JEUNE ET L'ABSTINENCE.

La fin de ces préceptes est de déterminer la manière dont nous devons nous acquitter de l'obligation qui nous est faite par un commandement général de Dieu, de pratiquer le jeûne et l'abstinence. Par le mot *jeûne*, il faut entendre une

restriction dans la quantité et la qualité de la nourriture ; l'abstinence n'implique de restriction que dans la qualité. Les jours d'abstinence, nous prenons tous nos repas comme d'habitude, mais certaines espèces d'aliments nous sont défendues ; les jours de jeûne, il nous est interdit et de prendre le nombre ordinaire de nos repas et de faire usage de certains aliments.

Le précepte de l'abstinence est aussi ancien que le monde. On le trouve dès le Paradis terrestre où Dieu commande à nos premiers parents de s'abstenir du fruit de l'arbre de la science. Quand Noé sortit de l'arche, Dieu lui ordonna de s'abstenir de « la chair mêlée avec le sang. » (Gen., ix, 4). Quand le Seigneur tira les Israélites, son peuple, de l'Égypte, il leur défendit strictement de manger du pain fermenté pendant les sept jours de la solennité de la Pâque. Il leur interdit même, et sous peine de mort, de garder alors du levain dans leurs demeures (Exod., xii, 15). Dans l'Ancien-Testament, les serviteurs de Dieu observaient si rigide ment la loi de l'abstinence que plusieurs aimèrent mieux mourir que de violer cette loi. Il est rapporté au dixième chapitre du livre de Daniel que ce prophète voulant obtenir certaines faveurs célestes, « se priva de pain agréable au goût, et que ni chair ni vin n'entra dans sa bouche jusqu'à ce que les jours de trois semaines furent accomplis. » Et cette abstinence fut si agréable à Dieu qu'il envoya à Daniel un ange du ciel pour lui assurer que sa prière était exaucée.

Il n'y a dans l'Ancien-Testament nul incident plus touchant que l'histoire du vénérable Eléazar qui, âgé de plus de quatre-vingt-dix ans, refusa d'obéir au roi païen lui ordonnant de manger de la chair de porc, et ne voulut pas consentir à violer les plus saintes lois de Dieu et de son peuple. « Ceux « qui étaient présents, touchés d'une injuste compassion à « cause de l'ancienne amitié qu'ils avaient pour lui, le prirent « à part, et le supplièrent de trouver bon qu'on lui apportât « des viandes dont il lui était permis de manger, afin qu'on

« pût feindre qu'il avait mangé des viandes du sacrifice,  
 « selon le commandement du roi, et qu'on le sauât ainsi de  
 « la mort ; ils usaient donc de cette espèce d'humanité à son  
 « égard, par un effet de l'ancienne affection qu'ils lui portaient.  
 « Mais pour lui, il commença à considérer ce que l'on lui mandait  
 « de lui un âge et une vieillesse si vénérable, ces cheveux  
 « blancs qui accompagnaient la grandeur du cœur qui lui  
 « était naturelle et cette vie innocente et sans tache qu'il avait  
 « menée depuis son enfance ; et il répondit aussitôt, selon  
 « les ordonnances de la loi sainte établie de Dieu, qu'il aimait  
 « mieux descendre dans le tombeau : car il n'est pas digne de  
 « l'âge où nous sommes, leur dit-il, d'user de cette fiction, qui  
 « serait cause que plusieurs jeunes hommes s'imaginant  
 « qu'Eléazar, à l'âge de quatre-vingt-dix ans, aurait passé  
 « de la vie des Juifs à celle des païens, seraient eux-mêmes  
 « trompés par cette feinte, dont j'aurais usé pour conserver  
 « un petit reste de cette vie corruptible : et ainsi j'attirerais  
 « une tache honteuse sur moi, et l'exécration des hommes sur  
 « ma vieillesse. Car encore que je me délivrasse présentement  
 « des supplices des hommes, je ne pourrais néanmoins fuir la  
 « main du Tout-Puissant, ni pendant ma vie, ni après ma  
 « mort. C'est pourquoi, mourant courageusement je paraîtrai  
 « digne de la vieillesse où je suis ; et je laisserai aux jeunes  
 « gens un exemple à imiter, en souffrant avec constance et  
 « avec joie une mort si précieuse pour le sacré culte de nos lois  
 « très saintes. Aussitôt qu'il eut achevé ces paroles, on le  
 « traîna au supplice. Et ceux qui le conduisaient ayant paru  
 « auparavant plus doux envers lui, passèrent tout d'un coup  
 « à une grande colère, à cause de ces paroles qu'il avait dites,  
 « qu'ils attribuaient à l'orgueil. Lorsqu'il était près de mourir  
 « des coups dont on l'accablait, il jeta un grand soupir et dit :  
 « Seigneur, qui avez une science toute sainte, vous connaissez  
 « clairement qu'ayant pu me délivrer de la mort, je souffre  
 « dans mon corps de très sensibles douleurs ; mais que dans  
 « l'âme je sens de la joie de les souffrir pour votre crainte. »  
 (II Machab., vi, 21-30).



Une des premières ordonnances des apôtres fut de prescrire aux Gentils nouvellement convertis « de s'abstenir des choses immolées aux idoles et du sang. » (Actes, xv, 20), et ils déclarèrent alors que cet ordre leur était dicté par l'Esprit-Saint. On pourrait objecter ici que saint Paul a dit que « C'est une doctrine diabolique que d'interdire le mariage et l'usage des viandes que Dieu a créées pour s'en servir avec action de grâces. » (1 Tim., iv, 3). Saint Paul ne peut vouloir dire que les Apôtres ont enseigné une doctrine diabolique en commandant aux fidèles de s'abstenir « de sang et de chairs étouffées, » mais il a prévu les ridicules erreurs des futurs hérétiques Manichéens qui enseignèrent que le mariage était un péché et que la chair et le vin étaient mauvais en eux-mêmes, n'ayant pas été créés par le vrai Dieu, mais par un principe méchant ; et c'est pour détruire à l'avance ces erreurs pleines d'impiété que saint Paul déclare que « tout ce que Dieu a créé est bon et ne doit pas être rejeté... parce qu'il est sanctifié par la parole de Dieu et par la prière. » (1 Tim., vi, 4).

L'obligation de jeûner, tout comme celle de s'abstenir de certains aliments, est maintes fois publiée dans l'Ancien et le Nouveau Testament. « Convertissez-vous à moi, dit le Seigneur, de tout votre cœur, dans les jeûnes, dans les larmes et dans les gémissements. » (Joel, ii, 12). Les Ninivites proclamèrent un jeûne public et obtinrent miséricorde (Jonas, iii, 7-10). « Nous jeûnâmes donc et nous fîmes dans ce dessein notre prière à notre Dieu, dit Esdras ; et tout nous succéda heureusement. » (1 Esdras, viii, 23). Notre-Seigneur lui-même annonce à l'avance que ses disciples jeûneront après son départ d'avec eux : « Un jour viendra où l'époux leur sera ôté, et alors ils jeûneront. » (Math., ix, 15). Il prescrit même les règles à suivre dans la pratique du jeûne : « Lorsque vous jeûnez, parfumez-vous la tête et lavez-vous le visage afin de ne pas faire paraître aux hommes que vous jeûnez... et votre Père qui voit dans le secret vous en rendra la récompense. » (Math., vi, 17, 18). Entre autres vertus saint Paul prescrit

le jeûne et nous exhorte à le pratiquer : « Montrons-nous en toutes choses, dit-il, les ministres de Dieu par une grande patience... dans les veilles et les jeûnes. » (II Cor., VI, 4,5). Le même apôtre nous rapporte que sa vie s'est passée « dans la faim, la soif et les jeûnes réitérés. » (II Cor., XI, 27). La prophétesse Anne est fortement louée dans l'Evangile parce qu'elle « servait Dieu jour et nuit dans les jeûnes et dans les prières. » (Luc, II, 37). Les Pères de l'Eglise, des différents siècles, enseignent l'obligation du jeûne : « Jeûnez, dit saint Basile, parce que vous avez péché, et jeûnez encore pour prévenir le danger de pécher. » Moïse et Elie, tout comme Notre-Seigneur lui-même, ont jeûné pendant quarante jours et quarante nuits, sans boire ni manger.

C'est surtout pendant le Carême, l'Avent, et aux jours des Quatre-Temps et des Vigiles qu'il faut observer la loi du jeûne. L'Eglise nous ordonne de jeûner durant le Carême en mémoire des quarante jours du jeûne de Notre-Seigneur, pour nous préparer à célébrer pieusement sa passion et sa mort sur la croix, et nous disposer à participer abondamment aux joies de sa résurrection.

Le jeûne de l'Avent est à Noël ce que le Carême est à Pâques. C'est un temps de pénitence et de prière pour préparer les fidèles à célébrer dignement la grande fête de la naissance du Christ et à enrichir leurs âmes des faveurs spirituelles que le Sauveur veut répandre en abondance sur le monde en ce grand anniversaire.

Les Quatre-Temps sont trois jours — mercredi, vendredi et samedi — réservés à chacune des quatre parties de l'année, pour sanctifier cette saison par la prière et le jeûne. Ces jours tombent dans la première semaine du Carême pour le printemps, dans la semaine de la Pentecôte pour l'été, dans la troisième semaine de septembre pour l'automne, et dans la troisième semaine de l'Avent pour l'hiver. La fin pour laquelle l'Eglise a institué les Quatre-Temps est de sanctifier chaque saison de l'année par des œuvres de pénitence et de mortification.

Pendant ces jours nous devons demander à Dieu de bénir les fruits de la terre et le remercier des moissons qu'il a si charitablement voulu nous donner. Les Quatre-Temps sont aussi les époques spécialement déterminées pour l'ordination des ministres de l'Eglise. Nous devons alors prier pour le clergé et demander à Dieu ses grâces les plus abondantes pour ceux qui sont appelés à être les guides des fidèles dans la voie du salut.

Aux premiers âges de l'Eglise, c'était la pratique des chrétiens de passer dans la prière et le jeûne les jours qui précédaient les grandes solennités religieuses, et ces jours furent appelés Vigiles. Divers motifs ont fait abroger ces Vigiles dont il ne nous reste plus qu'un bien petit nombre.

C'est notre doux espoir que tous les fidèles s'efforceront d'entrer dans l'esprit de l'Eglise pendant le saint temps du Carême afin de profiter des multiples et précieux moyens de sanctification qui leur sont offerts. Nous avons vu dans quelques-uns des textes de la sainte Ecriture cités plus haut, que le jeûne et l'abstinence sont un puissant moyen d'apaiser la colère de Dieu provoquée par nos péchés et nos négligences. Le jeûne aide à prévenir les fautes futures en amortissant la violence de nos passions et des tentations : il rend l'âme plus spirituelle, plus apte à prier, plus généreuse envers les pauvres et les nécessiteux, plus ardente et plus courageuse dans la pratique des exercices religieux.

Par dispense obtenue du Saint-Siège, le règlement du Carême reste le même que l'année dernière.

Cette lettre pastorale sera lue dans toutes les églises du Diocèse au premier office dominical qui suivra sa réception.

† THOS.-F. BARRY, *Evêque de Chatham.*

Chatham, N. B. 3 février 1913.

Fête de la Purification de la Sainte Vierge.

LOUIS O'LEARY *Secrétaire.*

(Circular)

CHATHAM, N. B. Feb. 11th, 1913.

REVEREND FATHER.

It affords me great pleasure to announce to you the signal honor conferred by the Holy See upon one of our priests and therefore upon the Diocese in general. On Saturday, January 25th, I received a telegram from His Excellency, the Apostolic Delegate, informing me of the nomination of Rev. Henry O'Leary, of Bathurst, to fill the vacant See of Charlottetown. Whilst sincerely regretting the removal from our midst of this earnest young worker, who by his talents, energy and zeal was of such great service to the Diocese and by his pleasant, amiable disposition and ways formed so many friendships both among the clergy and the laity, yet I cannot but rejoice in seeing him raised to a position of ecclesiastical dignity and given the larger field in which to employ his talents for the greater glory of God and the salvation of souls. I ask your good prayers for the success of his episcopate, and I have no doubt the entire diocese joins with me in wishing the brilliant young Bishop-elect of Charlottetown a sincere and heartfelt  
« Ad Multos Annos. »

We have received a number of the printed copies of the Decrees of the First Plenary Council of Quebec and will send them to the priests who apply for them to our Secretary. The Council itself requires that each priest should procure for himself a copy of the decrees and that at least one should be placed in the archives of the parish.

As the First Council treated not only of the doctrinal subjects before it, but also enacted various moral and practical legislation, which legislation, being approved by the Holy See, becomes effective without further promulgation by the Bishops, it is advisable that each priest make a careful study of the same in order to put into practice the enactments contained therein.

The price of the books taken at the Bishop's House in Chatham is \$ 2.00 per copy ; if sent by mail they will be \$ 2.25 per copy. They may also be procured at Quebec, the price there being \$ 2.50 per copy.

I regret to have to announce to you the death of two of our good priests in the persons of Rev. E. Pattenaude, of Charlo, who departed this life in the presbytery of his mission on December 15, 1912, and Rev. Thos.-J. Fitzgerald, of Jacquet River, who died at the Hotel-Dieu of Chatham on January 27th ulto. You will kindly remember to say Mass for the repose of their souls according to the Decrees of the Council of Halifax.

The loss of our departed priests makes a serious gap in the working force of our clergy and whilst earnestly recommending them to the charity of your good prayers I would ask you also to pray that God may send an increase in the number of our earnest and self-sacrificing clergy ; for « The harvest indeed is great but the laborers are few. Pray ye therefore the Lord of the harvest that he send forth laborers into his harvest. » St. Matth., IX, 27, 28.

Yours very truly in Xto.,

+ THOS.-E. BARRY,

Bishop of Chatham.

(Circular)

CHATHAM, N. B. May 2nd, 1913.

REVEREND FATHER,

We desire to inform you that the biennial Retreat for the Reverend Clergy of the Diocese will be held this year again in the Sacred Heart College of Caraquet, which the Rev. Eudist Fathers have kindly put at our disposition for that purpose. The Retreat will be preached by Rev. Father Ethelbert, O. F. M., of Montreal, and will commence on Wednesday evening, July 9th, and will close by the Holy Sacrifice of the Mass on Tuesday morning, July 15th. A conference of the Reverend Clergy will be held immediately after the Retreat.

During the time of the Retreat priests will be stationed at Grand Falls, St Basil, Campbellton, Bathurst, Tracadie, Newcastle, Chatham, Rogersville, St Louis, and if possible other places.

All the priests of the Diocese are expected to attend the exercises of the Retreat and the Conference after the Retreat unless otherwise permitted in writing.

We hope that all have followed the regulations of the Council of Halifax in saying Mass for the repose of the soul of the late Rev. Hugh McGuirk, who died at the Hotel-Dieu of Chatham, on the 28th of March last. We earnestly recommend him to your good prayers.

The Itinerarium for Confirmation in the County of Restigouche will be forwarded to the Pastors interested, when the time is definitely decided upon.

Yours very truly,

† THOS.-F. BARRY,

Bishop of Chatham.

## PASTORAL LETTER

OF HIS LORDSHIP THE BISHOP OF CHATHAM,  
PUBLISHING THE APOSTOLIC LETTER,  
*Magni Faustique*, OF HIS HOLINESS, POPE PIUS X,  
ON THE OCCASION OF THE XVI CENTENARY  
OF THE EDICT OF MILAN.

DEARLY BELOVED,

I have great pleasure in communicating to you a copy of the Apostolic Letter of the Sovereign Pontiff Pius X, announcing to the entire Catholic World a Jubilee in commemoration of the sixteenth centenary of the freedom and peace granted to the Church throughout the Roman Empire in the year 313, by the Emperor Constantine the Great. The preceding year in 312, Constantine the Great had gained a glorious victory over his enemy, the tyrant Maxentius, at the Milvian Bridge on the Tiber near the walls of Rome. This triumph Constantine attributed to the power and protection of the God of the Christians, as manifested to him before the battle with Maxentius by a luminous cross, which appeared to him in the Heavens at midday and on which were written the words : *In this sign thou shall conquer.* This vision implanted in the breast of Constantine a profound veneration for the sacred instrument of man's redemption, which was not forgotten.

For 300 years the Christian religion had been persecut-



ed by the rulers of the world. Ever opposed by the hatred of Paganism and the bloody persecution of the Emperors, it was nevertheless practiced in private and preached often under the form of symbols and in the hidden recesses of the Catacombs. Thus the seed of the Divine Word, sown on Calvary and preached to the poor and humble of Palestine, penetrated little by little into every town and hamlet throughout the length and breadth of the Roman Empire.

The great Emperor, though not yet a Christian, abhorred persecution, and determined to grant his subjects freedom to practice publicly as well as privately the Faith of his pious Mother, Saint Helena ; hence the proclamation of the famous Edict of Milan in March 313 by which all his subjects, Christians as well as Pagans, were granted freedom and equal rights in the profession and practice of the worship of their choice. You will, no doubt, be interested in reading a copy of the renowned Edict which is subjoined to this letter.

In commemoration then of this great gift of religious freedom, which God granted to His Church sixteen centuries ago, through the instrumentality of a Pagan Emperor, the Holy Father has opened to the faithful the spiritual treasures of the Church in the form of a Jubilee, which may be gained by all the Children of the Church on the following conditions viz.,

1st. A worthy reception of the Sacrament of Penance and Holy Eucharist.

2nd. An Alms proportionate to each one's means, to be given to the poor or for works of piety. Although the alms may be given directly as here stated, still to facilitate the fulfilment of this condition of the Jubilee we direct that a box be placed in each church or chapel with the inscription : *Jubilee Alms*. The offerings made in these boxes shall be sent to the Diocesan treasurer at the Bishop's residence, and will be employed by Us in the Diocese for the purposes indicated.

3rd. Six distinct visits are to be made to one's parish church or any church or chapel in the Diocese where Sunday Mass is at least occasionally said. At each visit prayers are to be said for the intention of the Pope ; for the prosperity and exaltation of the Church ; for the extirpation of heresies ; for concord among Christian Princes ; for the peace and salvation of all the faithful. The recitation of five *Paters and Aves* or any equivalent prayers will suffice for each visit. Persons living in convents, colleges and hospitals may make their visits to the chapel of the institution in which they live.

4th. Confessors have power to commute for their penitents in the tribunal of Penance, any conditions the fulfilment of which would be too difficult for them, into others more easily performed.

5th. Children who have not yet made their first Communion may be dispensed therefrom by their confessor.

The Indulgence of the Jubilee may be applied by way of suffrage to the souls in Purgatory. The Apostolic Letter *Magni Faustique* clearly defines the powers of Confessors and the privileges of different classes of the faithful. Pastors are requested to carefully study this Pontifical document, copies of which in French and English, accompany this letter, and read it to the faithful in each of their churches or chapels where Mass is celebrated on Sunday or on week day missions.

In the Diocese of Chatham, the Jubilee may be performed any time from the 1st June till the 8th. of December, 1913.

We earnestly exhort all the faithful to profit by the extraordinary graces of the Jubilee. The just will find in it the means of becoming still more pleasing to God, and stronger in the trials and temptations by which the just and fervent souls are always tried ; the sinner will find in it an easy way to become reconciled to his merciful Master, and will enjoy

the privileges and happiness of the prodigal on his return to his Father's home.

This Pastoral as well as the Apostolic Letter of our Holy Father shall be read by the Pastor in each of his churches and chapels, on the first Sunday he shall officiate therein, after its reception.

† THOS.-F. BARRY,

Bishop of Chatham.

Chatham, N. B.

Trinity Sunday, May 18th, 1913.

LOUIS O'LEARY,  
*Secretary.*

## APOSTOLIC LETTER

OF OUR HOLY FATHER PIUS X.

ESTABLISHING A UNIVERSAL JUBILEE IN MEMORY OF THE PEACE

GIVEN BY THE EMPEROR CONSTANTINE THE GREAT

TO THE CHURCH.

PIUS PP. X.

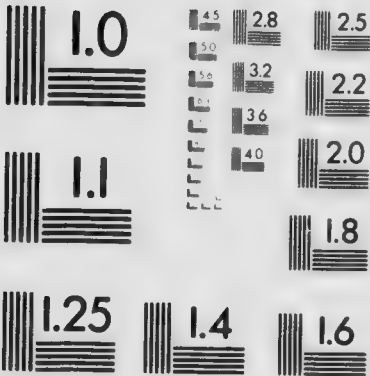
*To all the faithful in Christ who shall read this Our Letter,  
Health and the Apostolic Benediction.*

(*Magni faustique*). The commemoration of the great and happy event through which, sixteen centuries ago, Peace was finally given to the Church, while it fills all Catholics with the greatest joy and calls them to works of piety, moves Us to open the treasures of celestial gifts that choice and copious fruits accrue from that solemnity. Nothing indeed could be more fitting and opportune than the celebration of the Edict promulgated at Milan by the Emperor Constantine the Great, following close upon the victory over Maxentius obtained under the glorious Standard of the Cross—the Edict which put an end to the cruel persecution of the Christians and placed them in possession of the liberty bought at the price of the Blood of the Redeemer and the Martyrs. Then at last the Church Militant gained the first of those triumphs which throughout its history have invariably followed persecutions of every sort, and from that day ever increasing benefits have accrued to the human race. For men, abandoning by degrees the superstitious worship of idols, in their laws, customs and insti-



# MICROCOPY RESOLUTION TEST CHART

(ANSI and ISO TEST CHART No. 2)



APPLIED IMAGE Inc.

1655 East Main Street  
Rochester, New York 14609 SA  
(716) 481-0300 Phone  
(716) 288-5989 Fax

tutions, followed ever more the rule of Christian life, and so it came to pass that justice and love flourished together on the earth. Therefore We think it appropriate that on this happy occasion on which such a great event is commemorated, prayers should be multiplied to God, to His Virgin Mother, and to all the Blessed, especially to the Holy Apostles, that all peoples, renewing the dignity and glory of the Church, may take refuge in the bosom of this their Mother, may root out the errors by which insensate enemies of the Church strive to shroud its splendour in darkness, may surround the Roman Pontiff with the highest homage, and, with their minds at rest in perfect trust, may see indeed in the Catholic religion the defense and safeguard of all things. Then will it be possible to hope that men, again fixing their eyes on the Cross, the sign of salvation, will be able completely to overcome the enemies of the Christian name and the unbridled lusts of their hearts. To the purpose, then, that the humble prayers that should be offered on the occasion of this solemn commemoration throughout the Catholic world may redound to the greater spiritual good of the Faithful, We ordain that they be enriched with a Plenary indulgence in Jubilee form, urgently exhorting all the children of the Church that they unite their prayers and their works of piety to Ours, to the end that by means of the spiritual favour of Jubilee offered to them these may bear the greatest possible fruit both to the profit of souls and the advantage of religion.

Relying therefore on the mercy of Almighty God and on the authority of the Blessed Apostles Peter and Paul, and having consulted Our Venerable Brethren, the Cardinal Inquisitors General of the Holy Roman Church, of that power of binding and loosing which to Us though unworthy has been entrusted, We by this present Letter grant and impart, in the form of a general Jubilee, a Plenary Indulgence of all sins to all and sundry of the faithful of both sexes, whether resident in this dear City of Ours or coming to visit it, who in this

present year, from Low Sunday, when the secular celebrations intended to commemorate the Peace of the Church begin, to the feast of the Immaculate Conception of the Virgin Mother of God inclusive, twice visit each of the Basilicas of St John Lateran, St Peter Prince of the Apostles and St Paul outside the Walls ; who there, according to Our intention, for some time pour forth their prayers to God for the prosperity and exaltation of the Catholic Church and of this Apostolic See, for the extirpation of heresies and the conversion of all who are in error, for concord amongst Christian Princes and peace and unity amongst all the faithful ; who having properly confessed their sins, refresh themselves during the period indicated with the celestial banquet ; and who furthermore, each one according to his means give an alms to needy or, if preferred, assign it for some pious purpose. To those, however, who cannot visit the City, We grant the same Plenary Indulgence provided, during the same interval, they visit six times in all a church or churches in their own locality, to be designated by the Ordinary, and perform in their integrity the other works of piety which we have above specified. Further, we permit that this Plenary Indulgence may and can be applied by way of suffrage to the souls who have passed from this life united to God by charity.

To sailors and those engaged in travel We grant that when they visit their homes or otherwise when they arrive at any station, they can lawfully gain the same Indulgence when they shall have performed the works above prescribed and shall have visited six times the Cathedral or the principal or the parochial church of their home, or of the station.

As to the religious of both sexes, including those bound to perpetual enclosure, as well as all others whomsoever, whether the laity or ecclesiastics, secular or regular, who are detained in prison or captivity, or who labor under any bodily infirmity or under any other impediment whatsoever, and who cannot perform the works mentioned or any one of them,



We likewise grant and permit that the confessor can commute those works into other works of piety, or postpone them to another not distant time, and that he can enjoin such works as his penitents can perform ; for children who have not yet been admitted to first Communion, We also grant him authority to dispense from Holy Communion.

Further to all and sundry of the faithful, both the laity and ecclesiastics secular or regular, of whatsoever Order or Institute, even those that should be specially named, We grant authority to select for this purpose any priest whatever, secular or regular, who is an approved confessor ; and it is permitted also that nuns, novices and other women living in enclosure avail of this authorization, provided the confessor they select be approved for hearing the confessions of nuns. All who go to confession within the aforesaid appointed time, intending to gain the Jubilee and to perform the works necessary for gaining it, any such confessor can absolve and is empowered to absolve, for this occasion and in the tribunal of conscience only, from all sentences and censures of excommunication and suspension, and from other ecclesiastical sentences and censures, by the law or by man for whatever cause enacted or inflicted, even from those reserved to Ordinaries and to Us or the Apostolic See, even cases *Specially Reserved* no matter to whom and to the Sovereign Pontiff and the Apostolic See, and which otherwise are not understood to be granted by any concession how ample soever. He can also absolve and is empowered to absolve from all sins and excesses, however grievous and enormous, even from those reserved, as has been said, to the same Ordinaries and to Us and the Apostolic See, but he is to impose a salutary penance, and to observe the other things enjoined by the law ; and if there is question of heresy, he can absolve and is empowered to absolve from it when, according to the prescriptions of the law, error has been abjured and retracted. He can also commute into other pious and salutary works vows of what-

soever kind, even those confirmed by oath and reserved to the Holy See, always excepting vows of chastity, of religion, and of an obligation which has been accepted from a third party; excepting also penal vows, which are called vows preserving from sin, unless there be indicated a commutation of such a character as will in future serve to restrain from sin as much as the subject-matter of the original vow. And in regard to penitents of this kind who are in Holy Orders, even Regulars, he can dispense and is empowered to dispense them from an occult irregularity contracted solely for the exercise of their Orders and for the attainment of higher Orders.

We do not intend however by Our present Letter to dispense from any other irregularity whatsoever, whether arising from crime or from defect, either public or hidden or known, nor from any other incapacity or disability in what manner soever contracted. Nor do We intend to concede any authority to dispense in the premises, or to rehabilitate or to restore to the pristine state, even in the tribunal of conscience. Nor do We intend to derogate from the Constitution, with appended declarations, published by Our predecessor of happy memory Benedict XIV, which begins *Sacramentum Pœnitentiæ*. Nor in fine do We intend that this same Letter can or should in any wise help those who by Us and the Apostolic See or by any Prelate or Ecclesiastical Judge have been *by name* excommunicated, suspended, interdicted, or declared to have incurred other sentences or censures, unless within the aforesaid time they shall have made satisfaction, and, when necessary, come to terms with the parties. But if within the appointed time they could not, in the judgment of the confessor, make satisfaction, We grant that he can absolve them in the tribunal of conscience, only in order that they may gain the Indulgence of the Jubilee, the obligation of making satisfaction as soon as they can being imposed upon them.

Wherefore, in virtue of holy obedience We, by this present Letter, strictly order and command all Ordinaries wheresoever residing and their Vicars and Officials, and, failing them, those who are charged with the cure of souls, that when they receive transcripts or printed copies of the present Letter, they publish it, or take care that it be published in their churches and dioceses, provinces, cities, towns, territories and districts, and that to the people duly prepared, as far as possible even by the preaching of the word of God, they designate, as explained above, the church or churches to be visited.

Notwithstanding Apostolic Constitutions and Ordinances especially those by which The Faculty of absolving in certain therein expressed cases is so reserved to the Roman Pontiff for the time being that even similar or dissimilar concessions of such indulgences and faculties cannot avail anybody unless express mention and special derogation of them be made ; notwithstanding also the special rule against the granting of indulgences *ad instar* and of the indulgences of any whatsoever Orders, Congregations, Institutes, even when based and established on oath, Apostolic confirmation or any guarantee, also indult privileges, and Apostolic Letters for said Orders, Congregations, Institutes and persons thereof in whatsoever way conceded, approved and introduced ; all and several of which, although of them and of their whole tenor a special, specific, express and individual mention, and not merely mention by general clauses, would have to be made or any expression whatsoever indicated, or any other form whatsoever elaborated, for the observance of this, regarding their tenor as sufficiently expressed in this present Letter and the form prescribed for them as observed, We do for this once derogate specially, *nominatim* and expressly for the effect as aforesaid ; and all things else whatsoever to the contrary. Finally that this Our present Letter, which cannot be taken to every place, may more easily come to the knowledge of all, We will that tran-

scripts or even printed copies, when signed by the hand of a Notary Public and sealed with the seal of an ecclesiastical dignitary, shall everywhere and for all have absolutely the same authority as would belong to this Letter, if exhibited and shown.

Given at Rome at St Peter's, under the ring of the Fisherman, on the 8th day of March, 1913, in the tenth year of Our Pontificate.

By special mandate of His Holiness.

R. Card. MERRY DEL VAL,

*Secretary of State.*

## CONSTANTINE AND RELIGIOUS LIBERTY

---

« Concluding some time ago, that liberty of religion ought not to be hindered, but that it is necessary to leave to the judgment and free-will of each one the power to practice divine worship according to his choice, we ordained that Christians should practice their Faith in the religion professed by them. But, since in the rescript in which this permission was granted to them they considered that many and diverse conditions had been added, perhaps on that account some of them soon ceased to observe it. Therefore, both I, Constantine Augustus, and I, Licinius Augustus, having met at Milan and having come to an understanding on questions relating to the public weal and security, as well as other things that seemed advantageous to the majority of men, we decided first of all to legislate on matters relating to the Divinity, and to give to Christians like other men, full liberty to follow the religion they prefer, that the Divinity, which dwells in the Heavens, may show itself placated and benevolent towards us and all our subjects. With good and just reason, then, we considered ourselves bound to come to the conclusion that full freedom and the right to observe that religion which he deemed best were not to be denied to anyone belonging to the Christian body ; so that the Supreme Divinity, to the worship of which we are freely devoted, may grant us its accustomed favors and benevolence. Know, then, it is our will that we withdraw all the conditions contained in the rescript which was addressed to you and which seemed severe as well as foreign to our clemency, and that each one professing the desire to observe the religion

of the Christians may do so without fear and without annoyance. This much we thought it our duty to notify fully to you so as to acquaint you with the faculties granted by us to the Christians. At the same time you will understand that the peace of our times, full and perfect liberty to exercise their religion remains for all others. And this we have decreed in order that everyone may have the power of professing the religion he prefers. We have done all this in order that we should not have the appearance of having detracted in any way from the honor or religion of anyone. Moreover, with regard to Christians, we have decided to lay down the following rules : If the places in which they used to meet, and concerning which another decision, contained in a letter to you, was taken, were bought by any person or by the State, let them be restored to the Christians without payment or any demand for money, and without subterfuge or ambiguity ; let those who received them as a gift restore them to the Christians as soon as possible. If the possessors who hold them either by purchase or gift need anything from our benevolence, let them present themselves to the prefecture of the province and receive compensation as act of clemency on our part.

« You are to see that all these places be handed over to the Christians without delay. Moreover, as it is known that the same Christians not only possessed the places in which they were wont to assemble, but others also which rightfully belonged to their society or their churches and not to private individuals, you will give an order that all, in accordance with the above-mentioned law, be restored without controversy and without cavilling to the Christians, that is to say, to their society and congregation in the way indicated above, and those who make restitution without a price, may hope for indemnity from our benevolence. In all these matters you will actively intervene on behalf of the above-mentioned body of Christians, so that our ordinance may be carried out

as soon as possible, and that the public peace may be promoted by our clemency : so that we may obtain by means of these regulations the continuance of these divine favors, which we have experienced in the past for our prosperity and the increase of the public weal. To make this act of our good will known to all, the ordinance is to be posted up in the district under your charge for all to see, so that no one shall be unacquainted with our benevolence. »

# LETTRE PASTORALE

DE

SA GRANDEUR MONSEIGNEUR THOS-F. BARRY,  
EVÊQUE DE CHATHAM

PUBLIANT LA LETTRE APOSTOLIQUE « MAGNI FAUSTIQUE  
EVENTUS » DE SA SAINTETÉ LE PAPE PIE X  
A L'OCCASION DU 16<sup>e</sup> CENTENAIRE DE LA PROMULGATION  
DE L'ÉDIT DE MILAN

Nos très chers Frères,

Il nous est très agréable de vous faire parvenir une copie de la Lettre Apostolique du Souverain Pontife Pie X, annonçant aux Catholiques du monde entier un jubilé, pour commémorer le seizième Centenaire de la liberté et de la paix accordées à l'Eglise en l'an 313, par l'Empereur Constantin le Grand, dans l'Empire Romain tout entier.

L'année précédente, en l'an 312, Constantin avait remporté une éclatante victoire sur son ennemi, le tyran Maxence, au Pont Milvius, sur le Tibre, près des murs de Rome. Constantin attribua ce triomphe à la puissance et à la protection du Dieu des Chrétiens, comme il lui avait été manifesté, avant la bataille qu'il allait engager contre Maxence, par une croix



lumineuse qui lui apparut dans le ciel, en plein midi, et sur laquelle étaient écrits ces mots : « Par ce signe tu vaineras. » Cette apparition imprima dans le cœur de Constantin, une si profonde vénération pour l'instrument sacré de la rédemption de l'homme, qu'elle ne sortit plus de sa mémoire.

Pendant trois cents ans, la religion chrétienne avait été persécutée par les gouverneurs d'un monde qui lui était sans cesse hostile. Poursuivie par la haine du paganisme et la sanglante persécution des Empereurs, elle ne cessa néanmoins d'être pratiquée privément et prêchée souvent sous forme de symboles et dans les retraites cachées des catacombes. C'est ainsi que la semence de la parole divine, jetée en terre sur le Mont du Calvaire, prit racine, se répandit et pénétra peu à peu dans toutes les villes et dans tous les hameaux disséminés dans toute l'étendue de l'Empire Romain.

Bien qu'il ne fût pas encore chrétien, le grand Empereur avait la persécution en horreur. Aussi, résolut-il d'accorder à ses sujets la liberté de pratiquer en public aussi bien qu'en particulier, la foi de sa pieuse mère Sainte Hélène ; de là la promulgation du fameux Edit de Milan, au mois de mars de l'an 313. Par cet Edit, l'Empereur accordait à ses sujets, tant chrétiens que païens, liberté et droits égaux dans la profession et la pratique du culte de leur choix. Nul doute que la lecture de cet Edit renommé vous intéressera grandement. C'est pourquoi nous en annexons une copie à cette lettre.

Donc, pour commémorer ce don inestimable de la liberté religieuse que Dieu même accorda à son Eglise, il y a seize siècles, en se servant comme instrument d'un Empereur romain, le Saint Père a ouvert aux fidèles les trésors spirituels de l'Eglise sous forme de jubilé, que peuvent gagner tous les enfants de l'Eglise, aux conditions suivantes à savoir :

Premièrement : la digne réception des sacrements de Pénitence et de la Sainte Eucharistie.

Deuxièmement : une aumône proportionnée aux moyens

de chacun pour les pauvres ou les œuvres pies. Bien que cette aumône puisse être faite directement, de la manière ici indiquée, néanmoins, pour rendre plus facile l'accomplissement de cette condition du jubilé, nous recommandons de placer un tronc dans chaque église ou chapelle, portant cette inscription « Aumônes du Jubilé. » Les offrandes déposées dans ces trons devront être envoyées au Trésorier Diocésain, à la résidence épiscopale, et nous en disposerons dans le diocèse même aux intentions sus-mentionnées.

Troisièmement : chacun devra faire six visites différentes à son église paroissiale ou à toute église ou chapelle de ce diocèse, dans laquelle se dit, au moins de temps à autre, la messe du Dimanche. A chacune de ces visites on devra prier aux intentions du pape : pour la prospérité et l'exaltation de l'Eglise ; pour l'extirpation des hérésies ; pour la concorde entre les princes chrétiens ; pour la paix et le salut de tous les fidèles. La récitation de cinq « *Pater* » et de cinq « *Ave* » ou toute autre prière équivalente suffira à chacune de ces visites. Les personnes demeurant dans les couvents, les collèges et les hôpitaux, pourront faire leurs visites à la chapelle de l'Institution où elles se trouvent.

Quatrièmement : les confesseurs ont la faculté de commuer pour leurs pénitents, au Tribunal de la Pénitence, l'une ou l'autre de ces conditions dont l'accomplissement présenterait trop de difficultés, en d'autres conditions plus faciles à remplir.

Cinquièmement : les enfants n'ayant pas encore fait leur première communion, peuvent être dispensés de la communion par leur confesseur.

L'Indulgence du jubilé est applicable aux âmes du Purgatoire, par mode de suffrage. La Lettre Apostolique définit clairement les facultés des confesseurs et les privilèges des différentes classes de fidèles. Les Pasteurs sont priés d'étudier soigneusement ce document pontifical dont nous

leur envoyons avec la présente lettre, des copies en français et en anglais, et de le lire aux fidèles dans leurs églises ou chapelles où se célèbre la messe le dimanche, ou dans les missions où la messe se dit un jour de la semaine.

Dans le diocèse de Chatham, le Jubilé pourra se faire en tout temps à partir du premier juin jusqu'au 8 décembre 1913.

Nous exhortons instamment les fidèles à profiter des grâces extraordinaires du Jubilé. Le juste y trouvera le moyen de se rendre plus agréable à Dieu et de devenir plus fort dans les épreuves et les tentations qui assaillent toujours les âmes justes et ferventes.

Le pécheur y trouvera un moyen facile pour se réconcilier avec le Maître des miséricordes ; il jouira des mêmes privilèges et goûtera le même bonheur que le Prodigue, à son retour dans la maison de son père.

Cette lettre pastorale, de même que la Lettre Apostolique de Notre Saint-Père, devront être lues par le pasteur, dans chaque église ou chapelle, le premier dimanche où il y fera l'office après sa réception.

† THOS.-F. BARRY,

Evêque de Chatham.

Chatham, N. B.

Dimanche de la Trinité,

le 18e jour de mai 1913.

LOUIS O'LEARY,

*Secrétaire.*

## LETTRES APOSTOLIQUES

ÉDICTANT UN JUBILÉ UNIVERSEL EN SOUVENIR DE LA PAIX

ACCORDÉE A L'EGLISE

PAR L'EMPEREUR CONSTANTIN-LE-GRAND

---

PIE X, PAPE

*A tous les fidèles du Christ qui prendront connaissance  
de ces Lettres Salut et Bénédiction Apostolique*

Si la commémoration du grand et heureux événement qui, il y a seize siècles, assura enfin la paix à l'Eglise, remplit d'une grande joie toutes les nations catholiques et les invite aux œuvres de piété, elle Nous presse, Nous, d'une manière particulière, d'ouvrir les trésors des grâces célestes, pour que de cette insigne solennité l'on retire des fruits choisis et abondants dans le Seigneur. Il est juste, en effet, et il Nous semble très opportun de célébrer l'édit promulgué à Milan par l'empereur Constantin-le-Grand, édit qui suivit de près la victoire remportée sur Maxence, grâce au glorieux étendard de la Croix, et qui, mettant fin aux cruelles persécutions contre les chrétiens, leur assura cette liberté dont le sang du divin Rédempteur et des martyrs fut le prix. Alors enfin, l'Eglise militante remporta le premier de ces triomphes qui, aux diverses époques de son histoire, suivent toujours les persécutions de tout genre, et de ce jour elle répandit de plus en plus ses bienfaits sur la société. Délaissant peu à peu le culte superstitieux des idoles,

les hommes adoptèrent dans leurs lois, leurs mœurs et leurs institutions un genre de vie de plus en plus chrétien, et c'est ainsi que la justice et la charité fleurirent sur la terre.

Il Nous a donc paru convenable, en l'heureux anniversaire d'un fait de cette importance, de redoubler de prières à Dieu, à la Vierge sa Mère, à tous les saints, aux apôtres en particulier, afin que tous les peuples, soucieux de la gloire et de l'honneur de l'Eglise, reviennent au giron de cette Mère insigne ; qu'ils repoussent, autant qu'il est en eux, les erreurs dont les ennemis inconsiderés de la foi s'efforcent d'obscurcir sa splendeur ; qu'ils s'attachent au Pontife Romain avec la plus grande soumission et qu'enfin ils reconnaissent avec confiance l'Eglise catholique comme la sauvegarde et l'appui de toutes choses. Alors, il y aura lieu d'espérer que, les yeux enfin fixés sur la croix, les hommes pourront, par ce signe de salut, terrasser à la fois les ennemis du nom chrétien et les passions déchainées de leur cœur.

Et pour que les humbles prières qui seront multipliées dans le monde catholique à l'occasion de cette solennité séculaire produisent encore plus de fruits pour le bien spirituel des fidèles, Nous avons décidé de les enrichir d'une indulgence plénière, en forme de Jubilé, et Nous exhortons vivement tous les enfants de l'Eglise à unir aux Nôtres leurs prières et leurs œuvres de piété, et à profiter surabondamment de la grâce qui leur est offerte par ce Jubilé, pour le plus grand bien de leurs âmes et l'avantage de la religion.

C'est pourquoi, Nous confiant en la miséricorde du Dieu tout-puissant et en l'autorité des bienheureux apôtres Pierre et Paul, en vertu de ce pouvoir de lier et de délier qui Nous a été divinement octroyé, malgré Notre indignité, après en avoir conféré avec Nos vénérables Frères les Eminentissimes Cardinaux de la Sainte Eglise Romaine Inquisiteurs généraux, Nous accordons et ordonnons, par les présentes, une indulgence plénière de tous leurs péchés, en forme de Jubilé

universel, à tous et à chacun des fidèles de l'un et l'autre sexe, résidant dans Notre auguste Ville ou qui y viendront à partir du dimanche *in albis* de la présente année, où commenceront les solennités séculaires commémoratives de la paix de l'Eglise, jusqu'à la fête de l'Immaculée Conception de la Vierge Mère de Dieu inclusivement, pourvu qu'ils visitent deux fois les basiliques de Saint-Jean de Latran, de Saint-Pierre Prince des apôtres, et de Saint-Paul hors-les-murs, et y prient Dieu, quelque temps, selon Nos intentions, pour la prospérité et l'exaltation de l'Eglise catholique et de ce Saint-Siège apostolique, pour l'extirpation des hérésies et la conversion de tous ceux qui sont dans l'erreur, pour la concorde entre les princes chrétiens, la paix et l'union de tout le peuple fidèle, et que, dans cet espace de temps, ils se purifient sacramentellement de leurs fautes, se nourrissent au banquet céleste et fassent, en outre, une aumône, selon leurs moyens, soit aux pauvres, soit, s'ils le préfèrent, aux œuvres pies.

A ceux qui ne pourraient se rendre à Rome, Nous accordons la même indulgence plénière, pourvu que, dans le même laps de temps, ils visitent six fois l'église ou les églises de leur localité, qui auront été une fois pour toutes désignées par l'Ordinaire, et qu'ils y accomplissent les autres œuvres de piété que Nous avons indiquées plus haut.

Nous permettons, en outre, d'appliquer, par mode de suffrage, la même indulgence prénière aux âmes unies à Dieu par la charité, qui ont quitté cette vie.

Nous accordons que les navigateurs et les voyageurs, dès qu'ils auront regagné leur domicile ou qu'ils seront arrivés à un point déterminé de leur voyage, puissent gagner la même indulgence, en accomplissant les œuvres ci-dessus indiquées, et en visitant six fois l'église cathédrale, ou principale, ou paroissiale du lieu où ils se trouvent domiciliés ou arrêtés.

Les réguliers de l'un et l'autre sexe, même vivant dans

la clôture perpétuelle, et toutes les personnes laïques ou ecclésiastiques du clergé séculier ou régulier, retenues en captivité, incarcérées, empêchées par la maladie ou par tout autre motif, qui ne pourraient pas accomplir la totalité ou quelques-unes des œuvres rappelées plus haut, s'adresseront à leur confesseur. Nous accordons et permettons que celui-ci commue les œuvres empêchées en d'autres œuvres que le pénitent peut faire, ou proroge le délai fixé pour autant qu'il sera nécessaire, et qu'il use de la faculté de dispenser de la réception de la sainte Eucharistie les enfants qui n'ont pas encore fait leur première Communion.

Nous accordons à tous et à chacun des fidèles, soit laïques, soit ecclésiastiques, du clergé séculier et régulier, de n'importe quel Ordre ou Institut, même jouissant du privilège de la mention spéciale, de pouvoir se choisir, à cet effet, un confesseur pris parmi les prêtres séculiers ou réguliers approuvés pour les confessions. Pourront également se servir d'un confesseur à leur choix les moniales, novices et autres femmes vivant dans la clôture, pourvu que ce confesseur soit de ceux qui sont approuvés pour les religieuses.

Tous ceux et toutes celles qui, pendant le temps déterminé, se présenteront au confesseur de leur choix, avec l'intention de gagner le Jubilé et d'accomplir toutes les œuvres nécessaires pour cela, pourront, cette fois seulement et dans le for de la conscience, se faire absoudre par lui de toutes les excommunications, suspenses et censures, prévues par le droit ou portées par un supérieur, et pour quelque motif que ce soit, même celles réservées aux Ordinaires des lieux et à Nous ou bien au Siège Apostolique, même celles qui sont dites « spécialement réservées au Souverain Pontife et au Siège Apostolique, » et dont l'absolution d'ordinaire n'est pas comprise même dans les plus larges concessions. Le confesseur pourra également absoudre de tout désordre et de tout péché, si grave et énorme soit-il, même réservé aux Ordinaires, à Nous et au Siège Apostolique, après avoir prescrit la péni-

tence salutaire et les réparations convenables. Il pourra absoudre du péché d'hérésie ceux qui auront abjuré et rétracté leurs erreurs, comme il est prescrit par le droit. Il pourra commuer les vœux et serments, même réservés au Souverain Pontife, en d'autres œuvres pies et salutaires, excepté cependant les vœux de chasteté, de religion et ceux qui impliquent une obligation envers un tiers ou dont l'abrogation causerait préjudice à ce tiers, et les vœux pénitentiels que l'on fait pour se préserver du péché, à moins cependant que la commutation par le confesseur, ne soit estimée aussi préservative du péché que le vœu lui-même. Il pourra encore dispenser ses pénitents, promus aux Ordres sacrés, même les réguliers, de toute irrégularité occulte pouvant empêcher l'exercice de ces Ordres ou la réception des Ordres supérieurs.

Nous n'entendons pas, néanmoins, par les présentes, donner dispense des autres irrégularités, provenant d'un délit ou d'un défaut, qu'elles soient publiques, occultes ou notoires, et des autres incapacités ou inhabiletés, de quelque façon qu'elles aient été contractées, ni donner à personne, dans les cas susdits, le pouvoir de dispenser, habiliter et régulariser, même au for de la conscience. Nous n'entendons pas non plus déroger à la Constitution de Notre prédécesseur Benoît XIV *Sacramentum Pœnitentiæ*, ni aux déclarations qui l'accompagnent. Nous ne voulons pas que les présentes puissent ou doivent rien changer à la situation canonique de ceux qui, par Nous et par le Siège Apostolique, ou par quelque prélat et juge ecclésiastique, se trouvent nommément excommuniés, suspens, interdits, ou qui ont été déclarés juridiquement tombés sous les dites sentences et censures, à moins que, pendant le temps du Jubilé, ils n'aient satisfait et ne soient réconciliés dans les formes. Que si, pendant le temps du Jubilé, ils n'ont pu, au jugement de leur confesseur, donner satisfaction, Nous accordons qu'ils puissent être absous au for de la conscience, en vue seulement du gain des indulgences du Jubilé et avec l'obligation de satisfaire dès qu'ils le pourront.



C'est pourquoi, en vertu de la sainte obéissance, et par la teneur des présentes, Nous prescrivons et ordonnons à tous les Ordinaires des lieux, à leurs Vicaires et Officiaux, et, à leur défaut, à tous ceux qui ont charge d'âmes, dès qu'ils auront reçu des exemplaires manuscrits ou imprimés des présentes Lettres, de les publier et de les faire publier dans leurs églises, diocèses, provinces, cités, villes, territoires et autres lieux, de désigner aux populations les églises qu'elles devront visiter, et de les préparer, autant que possible, par la prédication de la divine parole, au gain du Jubilé.

Nonobstant les Constitutions et Ordonnances apostoliques, en particulier celles qui réservent le pouvoir d'absoudre, pour certains cas, au Pontife romain alors existant, au point que même des concessions semblables ou différentes d'indulgences et de pouvoirs ne puissent être accordées à personne, sans qu'il soit fait mention expresse des présentes ou qu'une dérogation spéciale y soit apportée. Nonobstant de même la règle qui défend d'accorder des indulgences *ad instar*, et tous statuts de quelque Ordre, Congrégation ou Institut que ce soit, même corroborés par serment, confirmation apostolique ou tout autre mode de consécration, et aussi toutes coutumes, privilèges indults, Lettres apostoliques, concédés, approuvés, renouvelés, de quelque manière que ce soit, à ces Ordres, Congrégations et Instituts et à leurs membres. A toutes et à chacune de ces choses, même à celles dont il devrait être fait, pour leur teneur entière, mention spéciale, spécifique, expresse et individuelle, et non pas seulement par formules générales équivalentes, ou au sujet desquelles quelque autre forme particulière devrait être employée. Nous déclarons, ayant du reste leur teneur pour suffisante, ment exprimée par les présentes et la forme traditionnelle à y employer pour observée, déroger nommément et expressément pour cette fois, en vue de l'effet que Nous voulons obtenir. Et pareillement à toutes choses contraires. Enfin, pour que Nos présentes Lettres, qui ne peuvent parvenir dans tous les lieux, arrivent plus facilement

à la connaissance de tous, Nous voulons qu'en tous lieux et chez tous les peuples, on accorde aux copies ou exemplaires imprimés de ces Lettres, s'ils sont signés de la main d'un notaire public et munis du sceau d'une personne constituée en dignité ecclésiastique, la même foi qu'aux présentes, si elles étaient exhibées ou montrées.

Donné à Rome, près Saint-Pierre, sous l'anneau du Pêcheur, le 8 mars de l'année 1913, de Notre Pontificat le dixième.

*Par mandement spécial de Sa Sainteté,*

R. Card. MERRY DEL VAL,

*Secrétaire d'Etat.*

## Official Decisions In Pew Regulations for the Diocese of Chatham

DUBIUM No 1. — Proposed by the Pastor of Caraquet.  
What rule should be followed in the case of a pew-owner who leaves the parish because he has no family, or who lives in the United States and comes from time to time for some months to stay with his children at Caraquet?

ANSWER. — Both cases come under Section 7 of Part 2. Short temporary visits do not change the rule.

DUBIUM No 2. — Proposed by the Pastor of Caraquet.  
Is section 3 of part 3rd retroactive?

ANSWER. — No ! in as much as Part 3rd, referring only to *annual* sale, will have its application at the next annual sale after promulgation.

Chatham, N. B.

Dec. 8th 1912.

(Sgd.) † THOS.-F. BARRY,  
Bp of Chatham.

DUBIUM No 4. — Proposed by the Pastor of Tracadie.  
In case of an old couple who at the time of the distribution of pews placed their pew in the name of their son, a young man who contributed nothing to the church, who left the parish nine or ten years ago and who is unlikely to return, what course of action is to be followed?

**ANSWER.** — Should the Pastor and Committee decide that the pew really belongs to the father, though now in the son's name, it should be placed in the name of the father and the regulations applied to it as his.

**DUBIUM No 5.** — Proposed by the Pastor of Tracadie. Robert has a pew which he obtained from his parents, both now dead. Robert is in the United States for ten years and will not likely return. Robert's brother has occupied the pew and pays the annual rent. Must the pew be taken from Robert's brother ?

**ANSWER.** — Yes, unless in the opinion of the Pastor and Committee Robert's brother and not Robert succeeds the father as head of the family. In that case by Section 6, Part 2, Robert's brother would have a right to the pew.

Dec. 21, 1912.

(Sgd.) † THOS.-F. BARRY,

Bp. of Chatham.

**DUBIUM No 6.** — Proposed by the Pastor of Caraquet. Some parishioners who received the pews sold at the death of their fathers, and which pews were given them at an annual rental of \$ 5.00 or \$ 6.00, refuse to pay that rent and consent to pay only \$ 1.00 which was the rental during the life of their parents. Must we accede to their demand ?

**ANSWER.** — Section 9, Part 2, contains blank spaces to be filled in with the present existing annual rents, where such exist. Changes can be made in them only every five years by the Pastor and Committee with the approbation of the Bishop.

Chatham, N. B. Dec. 22, 1912.

**DUBIUM No 7.** — Proposed by the Pastor of Caraquet.

In the case of two sons surviving the father, the elder of whom has married and left the paternal home, while the younger remained with the parents to the end and now occupies the homestead, which is to be considered the head of the family ?

ANSWER. — To be decided by Pastor and church Committee as to which can be said to replace the father.

Chatham, N. B., Dec. 22, 1912.

(Sgd.) † THOS.-F. BARRY,  
Bp. of Chatham.

DUBIUM No 8. — Proposed by the Pastor of Caraquet.  
Are the Pew Regulations *retroactive* ?

ANSWER. — Part 1st of the Regulations is retroactive for all churches in process of construction whose pews have not yet been sold definitely.

Part 3rd as applying to annual sale is not retroactive.

Part 2nd is not retroactive in depriving anyone of a pew which according to the judgment of the Pastor and Committee he has legitimately acquired at time of coming into effect of the new regulations. In case of one person having two or more pews the Pastor and Committee decide upon the reasons for holding second or third pew, and if judged valid and title good by pre-existing regulations the extra pew or pews are not to be taken away, otherwise the church is free to withdraw the pew. Part 2, Sec. 5. In case of absence from the parish this part is retroactive in computing length of absence subject to notice when possible as per Section 7, Paragraph 2.

Jan. 2, 1913.

(Sgd.) † THOS.-F. BARRY,  
Bp. of Chatham.

DUBIUM No 9. — Proposed by the Pastor of Lameque.

Germain, years ago, took two pews in Lameque church, one in his own name and one in the name of his very young son, Félicien, who moved out of the parish whilst young and married. His father continued to occupy Félicien's pew. According to our new law does Félicien's pew revert to the church simply or does it revert to a brother living in the parish ?

ANSWER. — Félicien's pew as that of an absent pew-holder falls under Section 7, of Part 2.

Jan. 2, 1913.

DUBIUM No 10. — Proposed by the Pastor of Lameque. At what age can a father commence to place credit receipts to the credit of his sons ?

ANSWER. — When sons are of age to help him to earn said credit receipts.

Chatham, N. B.

(Sgd.) † THOS.-F. BARRI,

Bp. of Chatham.

**Amounts Due To Date By The Various  
Missions on The Cathedral Apportionment  
July 1st, 1913**

| MISSION            | AMOUNT<br>DUE | MISSION              | AMOUNT<br>DUE |
|--------------------|---------------|----------------------|---------------|
| Acadiaville.....   | \$ 747 78     | Forward.....         | \$16562 32    |
| Balmoral .....     | 1422 18       | Paquetville.....     | 1317 74       |
| Baker Lake .....   | 363 94        | Petit Rocher .....   | 304 84        |
| Bartibogue.....    | 194 44        | Pokemouche (Upper)   | 1275 37       |
| Belledune .....    | 450 63        | Pokemouche(Lower)    | 548 36        |
| Blackville.....    | 396 43        | Red Bank .....       | 371 20        |
| Boiestown .....    | 261 72        | Renous.....          | 545 39        |
| Burnt Church.....  | 299 10        | Richibucto .....     | 680 86        |
| Charlo .....       | 797 44        | Shippegan.....       | 1096 76       |
| Dalhousie.....     | 1132 11       | Saint Andrew.....    | 543 77        |
| Edmundston.....    | 1071 00       | Saint Ann .....      | 1602 21       |
| Escuminac .....    | 1127 91       | Saint Basil .....    | 1900 00       |
| Grand Anse.....    | 777 00        | Salnt Charles .....  | 486 64        |
| Grand Falls.....   | 1129 24       | St Francis Xavier .. | 509 96        |
| Jacquet River..... | 825 47        | Saint Hilaire.....   | 236 25        |
| L'Amee .....       | 1045 16       | Saint Ignatius ..... | 313 03        |
| Lower Caraquet ..  | 1109 22       | Saint Isidore .....  | 1084 28       |
| Miscou .....       | 840 56        | Saint Jacques .....  | 522 60        |
| Nash's Creek ..... | 693 23        | Saint Louis .....    | 548 57        |
| Neguac .....       | 974 11        | Sainte Theresa ..... | 1097 65       |
| Nelson .....       | 451 98        | Tobique.....         | 355 18        |
| Newcastle .....    | 451 67        | Upper Bay du Vin..   | 502 46        |
| Forward....        | \$16562 32    | Total .....          | \$31505 39    |

LOUIS O'LEARY,  
Chancellor

## Report of conference after retreat at Caraquet

I. *Insurance*: — His Lordship Bishop Barry remarked that sometimes he received notifications of lapsing insurance policies but with no indication as to the parish in which the insured property is located nor any description of said property. As all the Church properties are insured in the name of the Episcopal Corporation he was at a loss to know where to send the notifications and was obliged to enter into correspondence with the agents to obtain the required information. All the pastors are therefore requested to have an understanding with their agents so that the notifications will be sent directly to the pastors and not to the Bishop.

II. *Pew Regulations*: — Some difficulties have arisen over the interpretation of the Pew Regulations to which official replies have been given. Should any other questions arise, the pastors are requested to make them out in writing and give or send them to the Secretary to obtain an official solution. Part 2nd, Section 1st, does not mean that all the pews must be sold by auction for life, and Part 3rd, Section 1st does not mean that all are to be sold each year, but if any are to be sold for life or each year they are to be sold according to these respective regulations.

III. *Decrees Of The Plenary Council*: — As already announced by the circular sent to the priests the Plenary Council requires that each priest procure a copy for himself and that



one be procured for each parish. These Decrees are now the law of the Diocese and while some of the enactments can be introduced only in the course of time, the priests should conform as far as possible to the disciplinary laws laid down therein.

IV. *Collection For The Pope.* — The above-cited Council orders that at least one collection each year be taken up for the Pope. After consulting some of the Clergy His Lordship thought that the best time for this collection would be about the Feast of SS. Peter and Paul. As that Feast has already been celebrated this year, another time will be fixed probably by a circular for the current year. Next year, however, and each succeeding year the Collection will be taken up on Sunday near the Feast of SS. Peter and Paul in the parish and on the succeeding Sundays in the dependent missions. The amount collected is to be sent as soon as possible to the Chancellor of the Diocese.

V. *Cathedral Apportionment:* — The Statements of the Cathedral Accounts show that the amount of \$ 37,492.85 has been paid to date on the Cathedral Fund. This is a little over one half of the amount, as there are \$ 31,505.39 still due including interest to date. This His Lordship found very satisfactory and thanked the Pastors and people. He remarked, however, that there are some missions which have not paid anything and some which have paid only the interest for one year. While it may be difficult for missions which are building to pay anything just yet on their capital, all should try to pay the annual interest, which will not be too hard on them

VI. *Bishop's New House:* — It was understood at the last conference that, should the Missions assume the debt of the Cathedral, the Bishop's New Residence would be built without calling on them for aid. His Lordship was pleased to say that the work on the building was very well advanced.

The exterior is about complete at a cost of about \$ 22,000.00, including the site, and he hoped to be able to enter it this fall. He wished all the priests visiting Chatham to look upon the Bishop's House as their home during their stay in the Town.

By order of His Lordship, The Bishop,  
Chatham, N. B.  
July 24th 1913.

LOUIS O'LEARY, *Sec.*

(Circular)

Chatham, N. B.

August 27th, 1913.

REVEREND FATHER,

During the Conference at the Retreat at Caraquet we called your attention to a collection for the Pope ordered by the Decrees of the Plenary Council of Quebec. Canon 621 of the Decrees reads as follows :

“ PETRI DENARIUM COLLIGENDUM.— Quapropter fideles omnes, clerum, communitates religiosas ac societates catholicas hortamur ut amorem et liberalitatem erga veneratissimum Christi Vicarium quisque pro viribus et opibus, prompto animo demonstret. Volumus autem ac præcipimus ut, semel saltem in anno, in omnibus ecclesiis in quibus publicum celebratur officium, fiat collecta inter unamquamque missam, ac pecunia sic percepta tota Id Ordinaru— mittatur ; cujus erit pecuniam illam ad Romanum Pontificem opportuno tempore trans-mittere.”

We announced that after this year the collection was to be taken up on the Sunday nearest the Feast of S.S. Peter and Paul, but for this year the time would be made known probably by a Circular.

Upon receipt of this letter you will, therefore, kindly

announce and make the collection for the Pope, if you have not already done so, and forward the amounts received to the Chancellor as soon as possible.

Yours very truly in Xto

† THOS. F. BARRY,

Bishop of Chatham.

## CHRISTMAS GREETINGS

Chatham, N. B.  
December 18th, 1913.

REVEREND FATHER,

At the approach of the New Year I wish to offer you and your faithful people my usual Christmas and New Year's greetings.

We all have great reason to express our most heartfelt thanks to Almighty God for the favors and benefits conferred upon us during the year now about to pass into the Abyss of Eternity, and to implore a continuance of the same for the coming year ; saying in the words of the Psalmist : " It is good for me to adhere to God." Ps., 72-28.

We adhere to God when we sanctify our homes by regular morning and night prayer, by grace offerings before and after meals, by remembering the poor and afflicted in our alms offerings, and by daily, or at least frequently, attending the services of God's Church and receiving Holy Communion when such is possible. Again we adhere to God when Christian parents set a good example to their children, by leading religious, exemplary lives, and by instructing, exhorting and even punishing them when necessary.

Let no mother or father suffer the honor of God to be outraged under their roof by cursing and blaspheming, by uncharitable or obscene language on their part or on the part of those for whose souls they will be held responsible by the Just Judge ;

but, on the contrary, let that great Name be exalted by prayer and adoration, by modesty in word and action and particularly by the use of becoming and decent dress. Let religious pictures adorn every Catholic home, and good books and religious papers be found in every household ; they will awaken pious thoughts and raise the mind to holy aspirations. Let bad books and immodest pictures be scrupulously banished, for they corrupt the soul and deprave the moral sense of both young and old.

We should remember those who have departed from us and gone to their eternal home during the present year and pray God to be merciful to them, and as we may be among their number in the coming year we should frequently ask the great grace of final perseverance and be always prepared to die the death of the just.

If they have not already done so I would remind the priests of their duty to offer up the Holy Sacrifice of the Mass for the late Father Azade Trudel, who died on Nov. 8th at Shippegan. Father Azade Trudel labored faithfully in the Diocese for twenty six years and edified all by his regular life, his priestly virtues and his zeal for the salvation of souls.

When parents recognize in their children an inclination for the religious life they should always foster and encourage such dispositions and not thwart them for selfish or worldly motives. The Diocese of Chatham is now established over fifty years and still many of the best parishes have not yet given a priest to the Church, notwithstanding the very great need we have of more priests. I am confident that if parents fostered the first signs of religious vocation in their children and made a little sacrifice to keep them longer at school, and in due time send them to college, we would have many more priestly vocations among our young boys.

The old altar-stones sent to the Bishop's Residence some time ago will be reconsecrated and ready for distribution by the end of January next. The cost of rene ing the sepulchre

in each stone is 50 cents. As these altar-stones are of various size and thickness the priests should not send for them without previously seeing them.

The Plenary Council of Quebec prescribes that theological conferences should take place in each diocese every year. *De Collationibus Theologicis*, page 206, No 198. — consequently I would request that the conferences already in existence for some years in our Diocese should be regularly attended ; and that new conference districts be formed throughout the Diocese where such have not yet been established. At the same time I would recommend that the districts be not too extensive so that the priests may more easily attend at all seasons of the year, and that the Presbyteries where the conferences are held be not put to undue inconvenience.

The grace of Our Lord Jesus Christ be with you. Amen.

† THOS.-F. BARRY,

Bishop of Chatham.

# INDEX

## A

|                                                      | LETTER              | PAGE |
|------------------------------------------------------|---------------------|------|
| Absence from Mission.....                            | July 13th, 1909.... | 42   |
| Altar Stones.....                                    | Dec. 18th, 1913.... | 295  |
| Allard — Mgr T. — Death of.....                      | March 4th, 1912.... | 199  |
| Annual Returns.....                                  | July 20th, 1911.... | 157  |
| Apostolic Letter — Constantinian<br>Jubilee.....     | May 18th, 1913....  | 265  |
| Apostleship of Prayer — Diocesan<br>Director.....    | July 20th, 1911.... | 157  |
| Apportionment of Cathedral Debt.....                 | July 20th, 1911.... | 158  |
| Apportionment of Cathedral Debt,<br>Amounts due..... | July 1st, 1913....  | 290  |
| Apportionment of Cathedral Debt,<br>Remarks.....     | July 24th, 1913.... | 292  |

## B

|                              |                     |     |
|------------------------------|---------------------|-----|
| Baptism with short form..... | March 4th, 1912.... | 199 |
| Bishop's New House.....      | July 24th, 1913.... | 292 |
| Books—Church.....            | July 13th, 1909.... | 42  |
| Books of Pastorals.....      | Nov. 17th, 1909.... | 48  |

## C

|                                             |                     |     |
|---------------------------------------------|---------------------|-----|
| Campbellton Fire — Report of.....           | July 14th, 1910.... | 84  |
| “ “ — Appeal.....                           | July 22th, 1910.... | 87  |
| “ “ — Contributions.....                    | Nov. 17th, 1910.... | 89  |
| “ “ Thanks for Contrib. Dec. 21st, 1910.... |                     | 118 |
| Cathedral Apportionment.....                | Aug. 27th, 1913.... | 297 |



|                                          |                      |     |
|------------------------------------------|----------------------|-----|
| Cathedral Debt, Assumption of.....       | July 20th, 1913..... | 156 |
| Cathedral Debt, Apportionment of.....    | July 20th, 1913..... | 158 |
| Cathedral Debt, Payments on.....         | Dec. 18th, 1911..... | 161 |
| Cathedral Debt, Payments on.....         | July 25th, 1912..... | 201 |
| Cathedral Debt, Am'ts due.....           | July 1st, 1913.....  | 290 |
| Cemetery for unbaptized infants.....     | July 20th, 1911..... | 154 |
| Census List, Form of.....                | Jan. 5th, 1910.....  | 51  |
| “ “ Explanation of.....                  | Jan. 5th, 1910.....  | 52  |
| “ “ Complete.....                        | June 30th, 1910..... | 81  |
| Christmas Greetings, 1910.....           | Dec. 21st, 1910..... | 118 |
| “ “ 1911.....                            | Dec. 18th, 1911..... | 161 |
| “ “ 1912.....                            | Dec. 18th, 1912..... | 224 |
| “ “ 1913.....                            | Dec. 18th, 1913..... | 294 |
| Christian Burial, Refusal of.....        | July 20th, 1911..... | 154 |
| Church Insurance.....                    | May 4th, 1909.....   | 38  |
| Church Books.....                        | July 13th, 1909..... | 42  |
| Church Debts.....                        | July 13th, 1909..... | 43  |
| Collections to be made.....              | July 20th, 1911..... | 154 |
| Collection for Pope.....                 | Aug. 27th, 1913..... | 292 |
| Collection for Pope.....                 | Aug. 27th, 1913..... | 297 |
| Conference after Retreat.....            | July 13th, 1909..... | 42  |
| “ “ “.....                               | July 20th, 1911..... | 154 |
| “ “ “.....                               | July 24th, 1913..... | 291 |
| Conferences, Theological.....            | P.e. 18th, 1913..... | 296 |
| Confirmation in North'land and Kent..... | Feb. 2nd, 1909.....  | 10  |
| Confirmation in North'land and Kent..... | May 4th, 1909.....   | 38  |
| Confirmation in Restigouche.....         | May 2nd, 1913.....   | 260 |
| Communion of Children.....               | Nov. 21st, 1910..... | 91  |
| Council Plenary of Quebec.....           | July 5th, 1909.....  | 49  |
| “ “ “ “ Expenses.....                    | Nov. 17th, 1909..... | 48  |
| “ “ “ “ Decrees.....                     | Feb. 11th, 1913..... | 257 |
| “ “ “ “ “.....                           | July 24th, 1913..... | 291 |

## D

|                                        |                      |     |
|----------------------------------------|----------------------|-----|
| D'Amours, Rev. Ernest, — Death of..... | Dec. 21st, 1910..... | 119 |
| Death of Rev. Terence Maguire.....     | May 10th, 1911.....  | 153 |
| “ “ Mgr T. Allard.....                 | March 4th, 1912..... | 199 |

|                                           |                       |     |
|-------------------------------------------|-----------------------|-----|
| Death of Rev. W. Purcell .....            | Nov. 15th, 1912 ..... | 223 |
| “ “ Rev. Louis Leblanc .....              | Nov. 15th, 1912 ..... | 223 |
| “ “ Rev. E. Pattenaude .....              | Feb. 11th, 1913 ..... | 258 |
| “ “ Rev. T. Fitzgerald .....              | Feb. 11th, 1913 ..... | 258 |
| “ “ Rev. Hugh McGuirk .....               | May 2nd, 1913 .....   | 259 |
| Debts, Church .....                       | July 13th, 1909 ..... | 42  |
| Diocesan Consultors — to be elected ..... | May 10th, 1911 .....  | 152 |
| Diocesan Consultors-Election of .....     | July 20th, 1911 ..... | 156 |
| Dispensations—Matrimonial .....           | May 4th, 1909 .....   | 38  |
| Dispensations—Matrimonial .....           | July 13th, 1909 ..... | 42  |
| Doucet, Rev — Death of .....              | Feb. 2nd, 1909 .....  | 9   |

## E

|                                       |                       |     |
|---------------------------------------|-----------------------|-----|
| Examiners and Parish Consultors ..... | Aug. 19th, 1911 ..... | 160 |
| Expenses of Quebec Council .....      | Nov. 17th, 1909 ..... | 48  |
| Explanation of Census List .....      | Jan. 5th, 1910 .....  | 52  |

## F

|                                          |                       |     |
|------------------------------------------|-----------------------|-----|
| Faculties, Renewal of .....              | Jan. 22nd, 1910 ..... | 49  |
| Faculty of saying Requiem .....          | Jan. 22nd, 1910 ..... | 50  |
| Faculty of Baptism with short form ..... | Mar. 4th, 1910 .....  | 199 |
| Faculties — Renewal of .....             | Nov. 15th, 1912 ..... | 223 |
| Fitzgerald, Rev. T. — Death of .....     | Feb. 11th, 1913 ..... | 258 |
| Form of Census List .....                | Jan. 5th, 1910 .....  | 51  |

## H

|                                            |                       |     |
|--------------------------------------------|-----------------------|-----|
| Hotel-Dieu of Campbellton, Buildings ..... | Dec. 21st, 1910 ..... | 119 |
|--------------------------------------------|-----------------------|-----|

## I

|                                      |                       |     |
|--------------------------------------|-----------------------|-----|
| Indulgence Plenary for Council ..... | Aug. 28th, 1909 ..... | 45  |
| Indulgences of Jubilee, 1913 .....   | May 18th, 1913 .....  | 261 |
| Insurance of Churches .....          | May 4th, 1909 .....   | 38  |
| “ “ “ .....                          | July 13th, 1909 ..... | 43  |
| “ “ “ .....                          | July 24th, 1913 ..... | 291 |

## J

|                       |                      |     |
|-----------------------|----------------------|-----|
| Jubilee of 1913 ..... | May 18th, 1913 ..... | 261 |
|-----------------------|----------------------|-----|

## K

|                         |                       |    |
|-------------------------|-----------------------|----|
| Key of Tabernacle ..... | July 13th, 1909 ..... | 43 |
|-------------------------|-----------------------|----|

## L

|                                           |                       |     |
|-------------------------------------------|-----------------------|-----|
| Lady Chapel .....                         | Dec. 21st, 1910 ..... | 118 |
| Lagacé, Rev. W. — Colonization .....      | Mar. 4th, 1912 .....  | 199 |
| Law, Marriage .....                       | July 13th, 1909 ..... | 43  |
| Law, Marriage Decree on .....             | July 20th, 1911 ..... | 155 |
| Leblanc, Rev. Louis — Death of .....      | Nov. 15th, 1912 ..... | 223 |
| Letters of Complaint .....                | July 20th, 1911 ..... | 154 |
| Lettre Apostolique — Jubilé de 1913 ..... | May 18th, 1913 .....  | 279 |
| Lettre Pastorale, 1909 .....              | Feb. 16th, 1909 ..... | 24  |
| “ “ 1910 .....                            | Feb. 2nd, 1910 .....  | 67  |
| “ “ 1911 .....                            | Feb. 11th, 1911 ..... | 137 |
| “ “ 1912 .....                            | Feb. 13th, 1912 ..... | 179 |
| “ “ 1913 .....                            | Feb. 3rd, 1913 .....  | 243 |
| “ “ Jubilé de 1913 .....                  | May 18th, 1913 .....  | 275 |

## M

|                                                  |                       |     |
|--------------------------------------------------|-----------------------|-----|
| Maguire, Rev. T. — Death of .....                | May 10th, 1910 .....  | 153 |
| McGuirk, Rev. Hugh — Death of .....              | May 2nd, 1913 .....   | 259 |
| Marriage Law .....                               | July 13th, 1909 ..... | 42  |
| Marriage Law, Decree on .....                    | July 20th, 1911 ..... | 155 |
| Matrimonial Dispensations .....                  | May 4th, 1909 .....   | 38  |
| Matrimonial Dispensations .....                  | July 13th, 1909 ..... | 42  |
| Matrimonial Dispensations, Requests<br>for ..... | July 20th, 1911 ..... | 155 |
| Mission, Absence from .....                      | July 13th, 1909 ..... | 42  |
| Modernism, Oath against .....                    | Dec. 8th, 1910 .....  | 110 |

## O

|                                                                          |                       |     |
|--------------------------------------------------------------------------|-----------------------|-----|
| Oath against Modernism .....                                             | Dec. 8th, 1910 .....  | 110 |
| O'Leary, Rt Rev. Henry J. — Appoint-<br>ed Bishop of Charlottetown ..... | Feb. 11th, 1913 ..... | 257 |

## P

|                                              |                       |     |
|----------------------------------------------|-----------------------|-----|
| Parish Priest Consultors and Examiners ..... | Aug. 19th, 1911 ..... | 160 |
| Pastorals, — Book of .....                   | Nov. 17th, 1909 ..... | 48  |
| Pastoral Letter, 1909 .....                  | Feb. 16th, 1909 ..... | 11  |
| “ “ 1910 .....                               | Feb. 2nd, 1910 .....  | 53  |

|                                        |                       |     |
|----------------------------------------|-----------------------|-----|
| Pastoral Letter 1911.....              | Feb. 11th, 1911.....  | 123 |
| “ “ 1912.....                          | Feb. 13th, 1912.....  | 163 |
| “ “ 1913.....                          | Feb. 3rd, 1913.....   | 229 |
| “ “ Jubilee of 1913.....               | May 18th, 1913.....   | 261 |
| Pattenaude, Rev. E. — Death of.....    | Feb. 11th, 1913.....  | 259 |
| Pew Regulations — Consultation on..... | Dec. 18th, 1911.....  | 161 |
| Pew Legislation — Rules for.....       | Sept. 29th, 1912..... | 203 |
| “ “ Official Decisions.....            |                       | 286 |
| “ “ Explanation of.....                | July 24th, 1913.....  | 291 |
| Plenary Council of Quebec.....         | July 5th, 1909.....   | 40  |
| “ “ “ “ Decrees of.....                | Feb. 11th, 1913.....  | 259 |
| “ “ “ “ “ “.....                       | July 24th, 1913.....  | 291 |
| Plenary Indulgence for Council.....    | Aug. 28th, 1909.....  | 45  |
| Professio Fidei.....                   | Dec. 8th, 1910.....   | 112 |
| Purcell, Rev. W. F. — Death of.....    | Nov. 15th, 1912.....  | 223 |

## R

|                                            |                       |     |
|--------------------------------------------|-----------------------|-----|
| Renewal of Faculties.....                  | Jan. 22nd, 1909.....  | 49  |
| “ “ “.....                                 | Nov. 15th, 1912.....  | 223 |
| Règlements des Bances.....                 | Sept. 19th, 1912..... | 213 |
| Report of Conf. after Retreat, 1909.....   | July 13th, 1909.....  | 42  |
| “ “ “ “ “ 1911.....                        | July 20th, 1911.....  | 154 |
| “ “ “ “ “ 1913.....                        | July 24th, 1913.....  | 291 |
| Retreat for Clergy.....                    | May 4th, 1909.....    | 38  |
| Retreat every two years.....               | May 10th, 1911.....   | 152 |
| Retreat for Clergy.....                    | May 2nd, 1913.....    | 259 |
| Returns for Missions, 1908.....            | Feb. 23rd 1909.....   | 7   |
| “ “ “ 1909.....                            | Feb. 12th, 1910.....  | 85  |
| “ “ “ 1910.....                            | Feb. 2nd 1911.....    | 121 |
| “ “ “ 1911.....                            | Feb. 16th, 1912.....  | 197 |
| “ “ “ 1912.....                            | Jan. 14th, 1913.....  | 227 |
| Revalidation of Marriages-Explanation..... | Feb. 2nd 1909.....    | 9   |
| Requiem Masses, Faculty for.....           | Jan. 22nd 1909.....   | 50  |

## T

|                              |                      |     |
|------------------------------|----------------------|-----|
| Tabernacle Key.....          | July 13th, 1909..... | 43  |
| Theological Conferences..... | Dec. 18th, 1913..... | 296 |